श्रीमद्भागवत :

आधुनिक मानव के लिए इसका संदेश

स्वामी शांतानंद पुरी

श्रीमद्भागवत : - आधुनिक मानव के लिए इसका संदेश

मूल लेखक : **स्वामी शांतानन्द पुरी**

अनुवादक : **डा० सरोज कुमार त्रिपाठी**

प्रकाशक : **कर्नाटक आर्य वैश्य महासभा चारिटबल ट्रस्ट**
3, सेवाज्योति, वाणि विलास रोड,
विश्वेश्वरपुरम्, बेंगलूर - 560004.

प्रथम मुद्रण : फ़रवरी 2000
(हिन्दी)

मुख पुट : श्री सी. एस. कृष्ण सेट्टी

टैप सेट्टिंग :
प्रज्वल बिसनेस ब्यूरो
2, एन.ए.टि. स्ट्रीट,
बसवनगुडी, बेंगलोर - 560 004.
दूरवाणी : 6515017, 6515069

मुद्रण : ओंकार आफसेट प्रिंटर्स
1 मैन रोड, न्यू तरगु पेट
बेंगलूर - 560 002
दूरवाणी : 6708186, 6709026

पितृ देवो भव

स्वर्गीय पिताजी श्री हरि चन्द जी
की दिव्य स्मृति में

- नरेश बंसल

समर्पण

मेरे पूज्य गुरुदेव ब्रह्मलीन स्वामी **पुरुषोत्तमानंदजी** महाराज
(वसिष्ठ गुहा उत्तर प्रदेश, हिमालय)
के चरण कमलों में यह पुस्तक श्रद्धासहित समर्पित है

जिनकी अमित कृपा के बिना श्रीमद्भागवत पर अपने विचार प्रतिपादित करने
और
उन्हें इस पुस्तक में उतार पाने में मैं सक्षम नहीं हो पाता ।

गुरुदेव के माध्यम से यह समर्पित है

समस्त विश्व के सहस्रों आध्यात्मिक साधकों को भी ।

आभार

पुस्तिका को अंग्रेजी से जनसुलभ भाषा हिन्दी में रूपांतरीत करने में मुक्तहृदय योगदान करने वालों के प्रति आभार

विशेषत:

सु **श्री सुरेशचंद्र गुप्ता** जिन्होंने संपूर्ण आर्थिक व्यय का भार सहर्ष अपने ऊपर ले लिया।
डा० सरोज कुमार त्रिपाठी - जिन्होंने हिन्दी अनुवाद किया ।
श्री जे. पद्मनाभ अय्यर । श्री सी. आर. जयचंद्र शेट्टी । श्री डी. एन. आनन्द ।
श्री पी. एस. वी. बाबू (ओंकार आफसेट प्रिंटर्स) और
कर्नाटक आर्यवैश्य महासभा चारिटबल ट्रस्ट ।

इन सबको यह आशीष कि उनके ऊपर भगवान की कृपा सदा बनी रहे ।

शांतानंद पुरि

लेखक की ओर से दो शब्द

२२ वर्ष की उम्र तक मेरी आध्यात्मिक ग्रहणशीलता बिलकुल सुषुप्त पड़ी रही । मुझमें कोई दृढ़ धार्मिक विश्वास नहीं था और ईश्वर के प्रति मेरा विश्वास भी नाममात्र का ही था । लेकिन बचपन से ही (१५ वर्ष की उम्र तक) परमाचार्य (कांची मठ के श्री शंकराचार्य) के दर्शनों के लिए मुझे ले जाया जाता था और उनके प्रभूत आशीर्वाद मुझे मिले । कदाचित एक सिद्ध आत्मा के इस सत्संग के ही परिणामस्वरूप जब मैं २२ वर्ष का था (१९५० ई०) तो **'द गोसपेल ऑफ श्री रामकृष्ण'** (श्री रामकृष्ण वचनामृत) में मेरी अचानक रुचि उत्पन्न हुई । यह ग्रंथ मुझे परमात्मा के किसी विधान से प्राप्त हुआ और यही मेरा प्रथम गुरु साबित हुआ । इसके बाद ईश्वर अनुभूति की लालसा मुझमें प्रकट होने लगी । मैं ध्यान करने लगा और संत-महात्माओं की जीवनियाँ आदि पढ़ने लगा । इस प्रकार बिना किसी आध्यात्मिक मार्गदर्शक के ही आध्यात्मिक पथ पर मेरी यात्रा शुरू हो गई । मैंने निश्चय किया कि मैं श्री रामकृष्ण परमहंस की परंपरा का ही गुरु बनाऊँगा जिनमें रामकृष्ण परमहंस से हर प्रकार का सादृश्य - **विशेषकर निष्कामता और ईश्वर के प्रति प्रेम** - विद्यमान होगा । ईश्वर की कृपा, उसमें विश्वास और उस विश्वास की दृढ़ता हेतु मैं ईश्वर से प्रार्थना करने लगा ।

यथासंभव मैं कुछ विख्यात महात्माओं यथा - ऋषिकेश के **स्वामी शिवानंद जी महाराज,** अल्मोड़ा पहाड़ी के **कृष्ण प्रेम** (रोनाल्ड निक्सन) महाराज के पास मैं प्रायः जाने-आने लगा । ऐसे सत्संगों के कारण मुझमें गुरु एवं लक्ष्य प्राप्ति की लालसा बढ़ गई । यथासमय, मैं एक ऐसे अजनबी के द्वारा जो बस में मेरा सहयात्री था, हिमालय गुफा में स्थित अपने गुरुदेव के पास ले जाया गया (१९५७ ई०) । मेरे लिए यह प्रसन्नता की बात थी कि **मेरे गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस के प्रशिष्य** थे और उनसे इनकी कई समानताएं थीं । पहली भेंट में ही गुरुदेव ने अपने जन्मदिन के अवसर पर अपने गुफा आश्रम में आरंभ होने वाले जन्म उत्सव में मुझे **सात दिनों तक भागवत सप्ताह** (भागवत एक ऐसा ग्रंथ, जो मेरे लिए तब तक अनजान था, का पारायण एवं उस पर प्रवचन) करने का आदेश दिया । आह ! **भागवत के रूप में मेरी साधना के लिए अमूल्य कोष** का कैसा उत्तराधिकार मुझे अपने गुरुदेव से मिला !

ईश्वर की कृपावृष्टि अनवरत होती रहती है । इसी का परिणाम है कि तब तक ईश्वर या उनकी कृपा से सर्वथा अनजान होने पर भी मैं १९५० में उस पथ पर चल पड़ा ।

मैं निपट अकेला था । पूरी साधना एक श्रमसाध्य कार्य थी या कम-से-कम वह ऐसी प्रतीत होती थी ।

मेरी साधना में उतार-चढ़ाव आते रहे । यहाँ तक कि अपने गुरु की शरण में आने के बाद भी वर्षों तक मुख्य रूप से जब मैं विदेश में था - मैं प्रार्थना, ध्यान, अपने गुरु और ईश्वर को भूल गया । लेकिन ईश्वर और मेरे गुरुदेव मुझे कभी नहीं भूले । आश्चर्यजनक रूप से एवं अप्रत्याशित रूप से वे मुझे सक्रिय साधना में पुनः वापस ले आए । **इस पथ पर जो शिशु स्वयं चलने लगता है भगवान उसके पीछे हमेशा विद्यमान रहते है** जबकि शिशु इससे अनजान रहता है । लड़खड़ाते हुए बच्चे को थामने के लिए वे हमेशा सजग रहते हैं ।

इस पूरी अवधि में मैं घर पर हमेशा भागवत पढ़ता रहा । **भागवत को मैंने स्वयं भगवान ही समझा और कृष्ण सर्वोच्च निराकार ब्रह्म हैं, स्वयं मेरे आत्म-तत्व** हैं ।

यह श्रीमद् भागवत (जो मेरे गुरु द्वारा मुझे दिया गया था) का ही प्रताप है जिसने मुझे लोहे से सोना बना दिया (या तुलसीदास के शब्दों में जिसने मुझे भांग से तुलसी पादप बना दिया)। भागवत ही मुझे औपचारिक संन्यास तक तेजी से ले गया । इसने मुझे **इच्छारहित और आसक्ति एवं अहंकार से मुक्त रखा** और औपचारिक रूप से गैरिक वस्त्र धारण से पहले मैं एक संन्यासी की मनःस्थिति में पहुँच गया था । भगवान की कृपा सदा हमारे साथ रहती है लेकिन भगवान की सजग प्रेरणापूर्ण एवं कृपापूर्ण दृष्टि की देख-रेख में वह हमारा अपना ही पुरुषार्थ होता है जो हमें उन्नत आध्यात्मिक अवस्था तक ले जाता है । पुनः अंतिम चरण में भगवत् कृपा का तीव्र आकर्षण ईश्वर अनुभूति एवं मुक्ति की परम अवस्था में एक झटके के साथ पहुँचा देता है । साधक के उद्धार के लिए उपयुक्त समयपर ही भगवान दौड़ते हैं और उसे सारे सांसारिक बोझों से मुक्त कर उसका पथ प्रशस्त करते हैं । कृष्ण से संबंधित एक उपाख्यान स्मरण आ रहा है । एक बार एक गोपी कुएँ के जल से भरे घड़े को अपने सिर पर रखने के लिए पास खड़े कृष्ण से अनुरोध करती है । कृष्ण बिलकुल मना कर देते हैं और वहाँ से चल पड़ते हैं । कुछ समय बाद जब गोपी किसी प्रकार घड़े को घर तक ले आती है, कृष्ण दौड़ते हुए आते हैं और घड़े को उसके सिर पर से उतारने में स्वेच्छा से सहायक बनते हैं । इस अबूझ आचरण के विषय में गोपी द्वारा प्रश्न किए जाने पर कृष्ण मुस्कुराते हुए कहते हैं । "मनुष्य को अपना बोझ स्वयं ढोना है, लेकिन उसके बोझों से उसे मुक्त करने के लिए उपयुक्त समय पर मैं आ जाता हूँ ।" **हमारे पुरुषार्थ के बाद ही भगवान की कृपा प्राप्त होती है ।**

यथासंभव भागवत का अधिकाधिक अध्ययन मेरी मुख्य साधना थी लेकिन किसी अदृश्य हाथ द्वारा प्रेरित मैं कुछ अन्य साधना भी कर रहा था । यह वेसा ही था जैसा कृष्ण की मुरली द्वारा दावा किया गया था । कृष्ण के होठों से कभी विलग न होने वाली मुरली से ईर्ष्या रखने वाली गोपियों ने पूछा कि उसने ऐसी कौन-सी साधना की है जिसके कारण भगवान का सतत सान्निध्य उसे प्राप्त है । मुरली ने इस प्रकार उत्तर दिया (एक हिंदी कवि के अनुसार) :

"एक पूर्ण समर्पित, सच्चे और दृढ़ आध्यात्मिक साधक से किसी तरह भिन्न मेरी साधना नहीं हैं । यह साधना आरंभ होती है मेरे बलिदान और बाँस की झाड़ियों वाले उस सुंदर घर के त्याग से, जहाँ मैं अपने प्रियजनों के साथ रहती थी । मेरे शरीर को कठोर तप से गुजरना पड़ा (काटकर उसे एक आकार दिया गया) । मेरा भी मनोनाश ऐसा हुआ कि उसे भीतर का मन (वजन) निकाल दिया गया और मुझे खोखला बना दिया गया । मुझमें ग्रंथि छेदन भी था, उन्हें (गाँठों को) भी मुझे चिकना बनाने के लिए काँट-छाँट दिया गया । अंतिम महत्वपूर्ण बात यह कि मैं हमेशा नत रहा और अपने स्वामी की इच्छा को सर्वोपरि समझकर उसे स्वीकार किया । मेरे स्वामी को मुझसे जो भी राग गवाने की इच्छा हुई मैंने उसी को गाया । राग चुनने में कभी भी मेरी कोई स्वेच्छा नहीं रही । तभी मेरे स्वामी कृष्ण ने मुझे स्वीकार किया और मुझे अपने होठों से लगा लिया ।

प्रथम त्यजी सुंदर बाँस झाड़ी रे
तन कटवायो, मन कटवायो,
ग्रंथी-ग्रंथी छिदवायो
जो सुर स्याम बजाना चाहे
सो सुर मैं बजायो
तब जाकर स्याम मोहे अपना अधर लगायो ।।"

अपने अनुभवों के द्वारा अनुभूत और श्रीमद् भागवत की शिक्षाओं द्वारा बार-बार अभिप्रमाणित निम्नलिखित साधनाओं में से किसी एक द्वारा हम आध्यात्मिकता की उच्च अवस्था और ईश्वर अनुभूति को भी प्राप्त कर सकते हैं, यदि हम उन्हें विश्वास, निष्ठा और उत्साह से करें ।

१. हमें **दृढ़तापूर्वक अपना लक्ष्य अवश्य निर्धारित** कर लेना चाहिए । **ईश्वर ही एकमात्र प्राप्तव्य हैं ।** प्रत्येक दिन हमें अपना लक्ष्य **याद रखना चाहिए** और उसे अपनी

आँखों के समक्ष रखना चाहिए । ठीक वैसे ही जैसे किसी फैक्ट्री का प्रोडक्शन मैनेजर दिन-रात इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि प्रत्येक मास के लिए निर्धारित उत्पादन लक्ष्य किस प्रकार पूरा हो । ईश्वर को पाना कोई बाएँ हाथ का खेल नहीं है ।

२. हमें लक्ष्य-प्राप्ति की एक **तीव्र उत्कंठा, अनन्य** और सब कुछ को **आत्मसात कर लेने वाली लालसा विकसित करनी होगी** (जो प्रारंभ में कल्पना पर आधारित और संत महात्माओं की जीवनियों से प्रेरित होगी) । सिर्फ इस प्रकार की तीव्र अभिलाषा ही हमारा मार्गदर्शन कर सकती हैं और हमें आत्म-अनुभूति की परम अवस्था में पहुँचा सकती है, जो सभी कष्टों और संकटों को समाप्त कर देगी और हमें परम और शाश्वत आनंद प्रदान करेगी ।

३. हमें बार-बार **सत्संग, पवित्र मनुष्यों संत महात्माओं का संग,** करना चाहिए और इसकी तरंगों को यथासंभव अधिकाधिक समय तक ग्रहण करते रहना चाहिए (हर मास में कम-से-कम तीन-चार दिन) ।

४. भगवान की कृपा, उनके प्रेम के लिए हमें अवश्य ही **भगवान की भक्तिपूर्ण प्रार्थना करनी चाहिए,** अपनी समस्याओं को उन पर छोड़ देना चाहिए और अपने दैनिक हर्ष-विषाद को उनके साथ बाँट लेना चाहिए । भगवान और गुरु शाश्वत होते हैं और व्यक्ति के स्वयं के भीतर स्थित होते हैं । जिस प्रकार **विद्युत का कोई रूप रंग नहीं होता,** उसी प्रकार **परम सत्य** जिसे ईश्वर या आत्म-तत्त्व कहते हैं, का कोई रूप या उसका कोई वर्णनीय लक्षण नहीं होता लेकिन स्वयं अपनी चेतना होने के कारण वह किसी भी रूप जैसे - कृष्ण, शिव, राम आदि जिसकी भी कल्पना हमारे लिए सुसुकर हो, के द्वारा प्राप्तव्य है । अंततः संधानकर्ता खुद की तलाश में ही तो है और सभी विचारों की तथा कल्पित रूपों की स्रोत आत्मा ही होता है । और इस प्रकार वह अज्ञान अवस्था में स्थित जीव को परमात्मा से जोड़ता है ।

५. **भगवान का सतत स्मरण** और हर समय यहाँ तक कि जब हम दूसरे कार्यकलापों में लगे हों, उनके नाम का मानसिक जप या स्पष्ट उच्चारण भगवान से संपर्क का सरल सूत्र है ।

६. हमें शारीरिक आवश्यकताओं, स्वास्थ्य, धन-दौलत, घर-परिवार आदि की चिंता या परवाह नहीं करनी चाहिए । यह सब प्रारब्ध के अनुसार होगा ही । अतः हमारी चिंताओं या प्रयत्नों का कोई अर्थ नहीं होता । हमें सभी परिस्थितियों और घटनाओं को

स्वीकार करना सीखना ही होगा, चाहे वे कितने ही दुखद या संकटपूर्ण क्यों न लगते हो । अपने सामान को अपने सिर पर ढोते रहने की आदत छोड़कर हमें इन सामानों को उसी रेल गाड़ी के डिब्बे में रख देना चाहिए जो हमारा भी भार वहन कर रही है । **ईश्वर की इच्छा, जो अंततः हमारे भले के लिए होती है, के समक्ष हमें बिना शर्त समर्पण कर देना चाहिए ।**

७. **आंतरिक समरसता, शांति और आनंद के लिए बाह्य समरसता अनिवार्य है ।** हमें दूसरे प्राणियों को स्वयं ईश्वर और अपने ही आत्म-तत्त्व के रूप में देखना चाहिए और दूसरों के दोषों या पापों को क्षमा करना सीख लेना चाहिए । जो हमें गाली देते हैं, अपमानित करते हैं या हमारा अहित करते हैं उन सबों के कल्याण और भले के लिए हमें प्रार्थना करनी चाहिए और उनके विषय में **हमारे हृदय में स्थित सारे द्वेष निकल जाएं,** इसके लिए भगवान से विनती करनी चाहिए ।

८. हमें वासनाओं के ऊपर व्यर्थ की चिंता नहीं करनी चाहिए । अपनी तृष्णा, इच्छा, क्रोध तथा लोभ जैसे **अपने दोषों को सतत दूर करते रहना चाहिए ।** ईश्वर या आत्म-तत्व के निरंतर स्मरण से अपने चित्त को लबालब भरकर और भगवत नाम का निरंतर स्मरण करने से हमारा हृदय अंदर-बाहर से नाम स्मरण से आप्लावित और संतृप्त हो जाएगा और इसके द्वारा सभी वासनाओं का स्वाभाविक अंत हो जाएगा ।

९. दुनिया से भागकर गैरिक वस्त्र धारण करना ईश्वर अनुभूति (आत्म साक्षात्कार) के लिए अनिवार्य नहीं है । **गृहस्थ के रूप में संसार में सक्रिय रहते हुए आध्यात्मिकता की परम अवस्था प्राप्त की जा सकती है ।** मनुष्य को सावधानी सिर्फ इतनी बरतनी है कि संसार मन के भीतर न घुसे ।

इस छोटी पुस्तिका में मैंने भागवत की अंतर्वस्तुओं या कथाओं का सारांश नहीं दिया है; उन्हें पुनः प्रस्तुत नहीं किया है । मैंने केवल कुछ साधनाओं की तरफ ध्यान आकर्षित किया है, जिन्हें हम अपने **वर्तमान दैनिक जीवन में आसानी से अपना सकते हैं ।** इसके अतिरिक्त मैंने कुछ उपाख्यानों कथाओं के गूढ़ अर्थों अर्थात् उनमें निहित अर्थों को व्यक्त करने का प्रयास किया है । इस पुस्तक के द्वारा यदि मैं एक भी पाठक-साधक में मूल भागवत (या अनुवाद) पढ़ने की प्रेरणा उत्पन्न कर सका और भागवत की **मूल चेतना उन्हें हृदयंगम करा**

सका या कम-से-कम ईश्वर के **निरंतर स्मरण** की **प्रेरणा दे सका** तो मैं ईश्वर की कृपा समझूँगा ।

अपनी तृष्णा, काम, क्रोध इच्छा आदि वासनाओं के निरसन के बारे में नाहक (व्यर्थ) चिंता नहीं करनी चाहिए । ज्यादा दुर्वासनाओं की चिंता करने से वह चित्त में दृढ़ रूप से बैठेगा । परन्तु अनवरत अपने चित्त में भगवान के सतत स्मरण तथा नामोच्चार के अभ्यास डालते रहने से वह चित्त में दृढ़ रूप से बैठेगा ।

एक दृष्टिकोण

आज समस्त विश्व-मानवों के जीवन-तनाव, परिवर्तन, उलझन, क्षोभ तथा भय से भरे हुए हैं । महिमान्वित अतीत काल शीघ्रतिशीघ्र लुप्त होते जा रहा है और अनिश्चित भविष्य की रूप रेखायें अभी स्फष्ट नहीं दिखाई पडती । आधुनिक विज्ञान के नये नये अनुसंधान तथा अविष्कार, भौतिकवाद के चंगुल में फँसे हुए मनुष्य के संकटभरे तथा समस्यापूर्ण जीवन में आशा, शान्ति तथा सुख लाने में असमर्थ प्रमाणित हो चुके हैं । ऐसे ही ऐन मौके पर श्रीमद्भागवत महापुराण पर आधारित इस पुस्तिका का प्राकट्य सर्वथा उपयुक्त प्रतीत हो रहा है । जबकि मनुष्य अनुभव करने लगा है कि अपने पाँव के नीचे की धरती खिसक रही है और वह निराशा की ओर विवशता पूर्वक लिया जा रहा है, ऐसे एक दृढ आलम्बन की आवश्यकता महसूस हो रही है जिसे पकडकर निकल सके और अधःपतन से अपने आपको बचा सके । पूज्य स्वामिजी इस पुस्तक द्वारा ऐसे ही एक विश्वस्त अवलम्बन का प्रदान कर रहे हैं, जिसकी खोज में ही हर मनुष्य को, जीवन की किसी न किसी अवस्था में, निकलना अनिवार्य हो जाता है ।

श्रीमद्भागवत महापुराण बारह स्कंधों (भागों) में विभाजित है और उसमें १८,००० श्लोक हैं । यह ग्रंथ पारमार्थिक ज्ञान के एक ऐसा बहता हुआ अक्षय्य श्रोत है जिसकी आवश्यकता आज भी उतनी ही है जितनी श्रीमद्भागवत के प्रथम आविर्भाव के समय में थी । कुछ भी हो, हम लोग आजकल एक अतित्वरित गतिशील युग में हैं जब कि कम्प्यूटर की इण्टरनेट के द्वारा क्षणों में किसी विषय की जानकारी की जा सकती है और हर क्षेत्र में इन्स्टेंट काफी, इन्स्टेंट भोजन, तत्काल विवाह और तत्काल तलाक तक की रीति चलने लगी है । इस ज़माने में अधिकांश मनुष्यों को बडे बडे बृहदाकार आध्यात्मिक अथवा धार्मिक शास्त्रों के अध्ययन करने में न रुचि है, न शक्ति है और न समय है । काल की इन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए स्वामी शान्तानन्द पुरी महाराज ने साधना तथा मोक्ष का उपयोगी एक परीक्षित-नमूने का एक ''तत्काल साधन'' श्रीमद्भागवत के आधार पर प्रस्तुत किया है ।

हम लोग अपने पूर्वजों की अपेक्षा कितने भाग्यवान हैं क्योंकि हमें उनके जैसे कठिन परिश्रम पूर्वक ध्यान, तीव्र तपस्या, यज्ञ, सेवा, पूजा या विस्तृत कर्मकाण्ड को अपनाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । हमें केवल भगवान के सतत स्मरण करते हुए, यथा संभव उनके नामसंकीर्तन करने से ही हमारे सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है । कितना सरल और सुगम साधन !

चेन्नै **जे. पद्मनाभ अय्यर**

प्रकाशक की ओर से

परमपूज्य श्री स्वामी शान्तानन्दपुरी महाराज विरचित पुस्तक ''श्रीमद्भागवत - आधुनिक मानव के लिए इसका संदेश'' के हिन्दी अनुवाद को पाठक गण के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अपार आनन्द पा रहे हैं । जब कि यह रचना अंग्रेजी, कन्नड़ और तेलुगु भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी थी, हिन्दी के ज्ञाता साधकगण की ओर से यह माँग तीव्र होने लगी कि यह पुस्तक हिन्दी भाषा में भी छपवा जाय । यह तो परमेश्वर की परम कृपा का ही फलस्वरूप है, जिसने श्री स्वामी शान्तानन्दपुरी महाराज के द्वारा अपना प्रभाव फैलाया, जिस कारण इस हिन्दी रूपान्तर का इतनी जल्दी प्रकाशित करना संभव हो गया ।

हमारी तरफ़ से श्री पूज्य स्वामी शान्तानन्दपुरी महाराज को हार्दिक धन्यवाद है जिन्होंने न केवल यह हिन्दी अनुवाद कराने की व्यवस्था एक योग्य अनुवादक महोदय द्वारा करवाई परन्तु स्वयं उसका निरीक्षण करके कहीं कहीं आध्यात्मिक सूक्ष्मार्थों को विशद रूप से प्रतिपादन करने योग्य शैली में परिवर्तित करने में सहायता की । स्वामिजी महाराज के आशीर्वादों की प्रार्थना करते हुए उनको हमारा शत शत प्रणाम ।

डा० सरोज कुमार त्रिपाठी जी (नई दिल्ली) जिन्होंने अपने अमूल्य समय के व्यय की परवाह न करते हुए शीघ्रतिशीघ्र इस पुस्तक का अनुवाद उत्तमोत्तम, आकर्षक, सरल और साहित्यिक हिन्दी में कर चुके हैं उन्हें हम आभारी हैं तथा हार्दिक कृतज्ञता का निवेदन करते हैं । श्री एस.सी. गुप्ताजी जिन्होंने खुले दिल से इस हिन्दी संस्करण के प्रकाशनार्थ वित्तदान किया है उनको हमारे कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद हैं ।

हम पूरी आशा करते हैं कि यह हिन्दी संस्करण भी इतर भाषाओं के संस्करण जैसे ही लोकप्रिय बने तथा साधकगण खुशी के साथ उसका स्वागत करें ।

श्री प्रज्वल बिसिनेस ब्यूरो को जिन्होंने टाइप सेट्टिङ्ग का काम किया है तथा ओंकार आफ़सेट प्रिंटर्स के श्री वेंकटेश बाबू जी को भी जिन्होंने इस पुस्तक को एक सर्वोत्कृष्ठ, रमणीय तथा जनाकर्षक रूप दिया है, हम अपनी हार्दिक आभारी प्रकट करते हैं ।

अनुरोध है कि हमारा प्रेमपूर्वक धन्यवाद मुख पुट के कलाकार श्री एस.कृष्ण सेट्टीजी, को और अन्यान्य सज्जनों को भी स्वीकार हो जिनकी सहायता तथा प्रेरणा हमें शुरू से अन्ततक मिलती रही ।

कर्नाटक आर्य वैश्य महासभा चारिटबल ट्रस्ट

अनुक्रम

			पु. सं.
१.	प्रस्तावना		3 - 7
२.	अध्याय I	अधिकारी स्कंध	9 - 14
३.	अध्याय II	साधना स्कंध	15 - 18
४.	अध्याय III	ज्ञान क्रियान्वयन स्कंध	19 - 21
५.	अध्याय IV	पुरुषार्थ स्कंध	22 - 28
६.	अध्याय V	स्थिति स्कंध	29 - 32
७.	अध्याय VI	पुष्टि स्कंध	33 - 36
८.	अध्याय VII	वासना स्कंध	37 - 39
९.	अद्याय VIII	वासना-निरसन स्कंध	40 - 47
१०.	अध्याय IX	वंशानुचरित स्कंध	48 - 50
११.	अध्याय X	निरोध स्कंध	51 - 62
१२.	अत्याय XI	मुक्ति स्कंध	63 - 73
१३.	अध्याय XII	आश्रय स्कंध	74 - 82

श्रीमद्भागवत :

आधुनिक मानव के लिए इसका संदेश

ॐ

श्री मात्रे नमः

श्री गुरुभ्यो नमः

श्रीमद्भागवत : आधुनिक मानव के लिए इसका संदेश

प्रस्तावना

१. एक ओर मनुष्य की सभी गतिविधियों में (धन) का अवाँछनीय महत्व और दूसरी ओर विज्ञान और प्रविधि के क्रांतिकारी विकास के परिणामस्वरूप मनुष्य विपुल सुख-साधनों का गुलाम हो गया है । यह पागल और अंधी दौर उसे किस पतन की ओर ले जा रही है, क्या इस भौतिकवादी अस्तित्व का कोई अर्थ और प्रयोजन है, मनुष्य के जन्म लेने का हेतु क्या है, वह व्यर्थ ही क्यों अनवरत रूपसे कठिन परिश्रम कर रहा है और क्या इस नीरस अस्तित्व से अपने आपको मुक्त करने का कोई उपाय है, इस के विषय में आज के मनुष्य के पास एक क्षण रुकने और शांतिपूर्वक सोचने का न तो समय है, न ऊर्जा है और न ही ऐसी मनःस्थिति है । संभवतः उसे अपने गहरे अंतःकरण में धीमे स्वर में उन प्राचीन गौरवशाली दिनों की एक अननुभूत हलचल सुनाई देती है जब जीवन एक आनंदमय विश्रांति एवं उच्चतर और महानतर लक्ष्यों की ओर ले जाने वाला अनुभव था । उसने कहीं सुना या पढ़ा है, किसी सर्वोच्च सत्ता के विषय में, कुछ ऐसे भाग्यशाली लोगों के विषय में जिन्होंने इस सत्ता का अनुभव किया है तथा कुछ और भी दुर्लभ ऐसे लोगों के विषय में जिन्होंने इस सत्ता का साक्षात्कार किया है । लेकिन उसे यह पता नहीं है कि इस खोज पर कैसे निकला जाय ? अपने एकांत पथ में, वह महसूस करता है कि यह गहन सत्य कल्पनातीत है और बुद्धि को घबरा देता है, लेकिन जब तक इसका ज़रासा भी कोई अनुभव नहीं कर लेता, चाहे परोक्ष ही क्यों न हो, यह भौतिकवादी दुनिया (जिसमें वह रह रहा है) सिर्फ मृगमरीचिका रह जाती है । एक प्रकार की चकाचौंध में जब वह अपने उन महान ग्रंथों की तलाश शुरू करता है; तो अपनी संस्कृति एवं संचित ज्ञान के कोष में वह पाता है - रामायण, महाभारत एवं भागवत । हम देखेंगे कि किस प्रकार श्रीमद् भागवत इस भौतिकवादी संसार के लाखों रुग्णों को एक आश्वासन दे सकता है । यहाँ भागवत की अनगिनत कहानियाँ, कथाएँ या उपकथाएँ कहना ही प्रयोजन नहीं है, न ही इसमें निहित दर्शन की बौद्धिक व्याख्या हमारा अभीष्ट है; बल्कि हमें सिर्फ यह देखना है कि इसमें आज के मनुष्य के लिए व्यावहारिक और उपयोगी

संदेश क्या है और इस संदेश को वह अपने दैनिक जीवन में किस प्रकार व्यवहार्य बना सकता है ।

२. श्रीमद्भागवत है क्या ? सनातन धर्म के शास्त्रीय ग्रंथ तीन मुख्य श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं - श्रुति, स्मृति और पुराण । श्रीमद्भागवत एक महापुराण है और इसके लेखक ऋषि वेदव्यास (बादरायण) माने जाते हैं । 'भागवत' शब्द का मूल अर्थ **(भगवत: इदं)** स्वयं भगवान के उपदेश "जो भगवान का या भगवान से संबन्धित है" । इसका दूसरा अर्थ भगवान के भक्तों (भागवतों) की महिमा भी है । ऐसा माना जाता है कि भागवत स्वयं भगवान नारायण के द्वारा सृष्टि रचयिता ब्रह्माजी को कहा गया । यही ज्ञान-दीप ब्रह्मा द्वारा अपने पुत्र नारद ऋषि को, नारद द्वारा ऋषि वेदव्यास को, वेदव्यास द्वारा उनके पुत्र शुकदेव को और शुकदेव द्वारा राजा परीक्षित को (जो अभिमन्यु का बेटा था) सुनाया गया । भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य है निरपेक्ष सत्य अर्थात् वह परम सत्ता जो भगवान, नारायण, ब्रह्म, परमेश्वर आदि नामों से भी जाना जाता है । इस पुस्तक के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए विविध आध्यात्मिक साधनाओं से संबन्धित शिक्षाओं को हम प्रमुखता देंगे जो सरल भी हो तथा उच्चकोटिका भी हो ताकि प्रारम्भिक साधक से लेकर उच्चतम श्रेणी के साधकों तक के उपयोगी बने । इसका सन्देश ऐसा हो कि सांसारिक गतिविधियों में व्यस्त रहते हुए भी आधुनिक परिवेश के कोई मनुष्य भागवत के प्रतिपादित और ध्वनित आत्म साक्षात्कार की साधना द्वारा विशुद्ध और स्थायी आनंद तथा अमरत्व के लक्ष्य को पाया जा सके ।

भागवत बारह खंडों में विभक्त है जिसे स्कंध कहा जाता है । वस्तुतः यह कदम दर कदम आगे बढ़ाने वाला मार्गदर्शक है जिसका आरंभ होता है आध्यात्मिक गुरु की तलाश से और परिणति होती है परमात्मा की अनुभूति जैसे लक्ष्य की प्राप्ति में । **अधिकारी स्कंध** नामक प्रथम स्कंध में यह उल्लेख है कि आध्यात्मिक गुरु की तलाश कैसे की जाय और साधक की कैसी योग्यता हो ताकि समर्थ गुरु प्राप्त हो सकें । द्वितीय खंड **साधना स्कंध** सरल किंतु सुंदर शब्दों में साधक द्वारा करने योग्य साधना का वर्णन करता है विशेष रूप से उनके लिए जो मृत्यु से भीत हैं या जो आसन्न मृत्यु का सामना कर रहे हैं । यह खंड परोक्ष ज्ञान प्रदान करता है इसलिए इसे **ज्ञान स्कंध** भी कहा जाता है । इस अध्याय में तत्काल मुक्ति या मोक्ष की युक्ति बताई गई है । भागवत कदाचित एकमात्र ऐसा अद्भुत ग्रंथ है जिसमें शुकदेव द्वारा राजा परीक्षित को मात्र सात दिनों में मुक्ति का विश्वास दिलाया गया है - जिसमें इसे राजा परीक्षित द्वारा तन्मय होकर सुनने के अतिरिक्त और किसी प्रकार के

प्रयत्न की आवश्यकता नहीं थी - और जिसने वास्तव में ऐसा पथ दिखलाया । यह संदेश सबके लिए बिलकुल स्पष्ट है । तृतीय स्कंध में दृष्टांतों के माध्यम से दो कहानियों द्वारा द्वितीय स्कंध में प्रतिपादित सिद्धांतों का सकारात्मक एवं नकारात्मक अर्थों में व्यावहारिक निदर्शन किया गया है । इस स्कंध का उद्देश्य है साधक में लक्ष्य के प्रति संपूर्ण भक्ति उत्पन्न करना, उनमें यह विश्वास उत्पन्न करना कि पथ पर चल पड़ने के लिए हर पल उपयुक्त है तथा सांसारिक इच्छाओं एवं गतिविधियों में पूरी तरह तल्लीन व्यक्ति भी समर्थ गुरु की सहायता से इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

पुरुषार्थ स्कंध नामक चतुर्थ स्कंध में चार पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है । इन पुरुषार्थों में से कोई एक या एकाधिक को प्राप्त करना ही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य होता है । मनुष्य की सारी गतिविधियां इनमें से एक या अधिक पुरुषार्थों की तलाश,उनकी प्राप्ति और उन्हें कायम रखने की ओर केंद्रित हैं । इस स्कंध में चार ऐसी उपकथाएँ हैं जिनमें यह दिखाया गया है कि ईश्वर की अनुभूति द्वारा मनुष्य किस प्रकार इन सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार चाहे सांसारिक सुख, अपार संपत्ति का लक्ष्य हो या परम मुक्ति का लक्ष्य, दोनों के लिए भागवत में दिखाया गया पथ समान रूप से उपयोगी है ।

४. पंचम स्कंध **स्थिति स्कंध** (स्थिति का अर्थ है स्वयं में या परमेश्वर में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित होना) में दृष्टांतपरक कहानियों द्वारा यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार अपनी परिस्थितियों से पूर्ण निःसंगता हमें परम आनंद की स्थायी अवस्था में स्थित करती है साथ ही इस स्कंध में साधक के पथ में संभावित विघ्नों का भी परिचय कराया गया है । **पुष्टि स्कंध** (पुष्टि का अर्थ है कृपा, अनुग्रह, आशीर्वाद) नामक षष्ठ स्कंध में मनुष्य की आध्यात्मिक यात्रा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक की चर्चा की गई है । इसमें यह बताया गया है कि प्रभु-कृपा के बिना मनुष्य की ओर से किए गए किसी भी प्रयत्न का कोई अर्थ नहीं है । इस परम कृपा को प्राप्त करने की दो आसान युक्तियां है - १. ईश्वर का नाम जप और २. प्रार्थना । इस स्कंध की कहानियाँ यह निर्दर्शित करती हैं कि किस प्रकार अधम से अधम पापी या दुष्टतम असुर भी सुलभता से भगवान की कृपा के पात्र बन जाते हैं ।

सप्तम खंड - **वासना स्कंध** में दो प्रकार की वासनाओं (पूर्व संस्कारों) का परिचय कराया गया है । इनमें अच्छी वासनाएँ हमें ईश्वर अनुभूति की ओर प्रवृत्त करती है तथा बुरी वासनाएँ पतन की ओर उन्मुख करती हैं । वासनाएँ वस्तुतः इष्ट और अनिष्ट प्रवृत्तियाँ हैं, जो

पूर्व जन्म से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं और जो हमारे मस्तिष्क के स्मृति कोष (चित्त) में गहरे रूप में मुद्रित रहती हैं । वे वासनाएँ ही हमारी सलाहकार हैं जो हमें नए कार्यों की ओर प्रवृत्त करती हैं, जो भविष्य में जन्म और उसके परिणामस्वरूप कष्टों में फँसाकर हमें बंधनग्रस्त करते हैं । वासना प्रारब्ध से भिन्न और विशिष्ट है । प्रारब्ध हमारे पूर्व जन्म के भले और बुरे कर्मों की प्रतिक्रिया है जो पुरस्कार और दंड - पुण्य और पाप - के रूप में फलित होता है । अष्टम स्कंध **वासना-निरसन स्कंध है** जिसमें वासना (प्रवृत्तियों) के निवारण की युक्तियां वर्णित हैं । नवम खंड **वंशानुचरित स्कंध है** जिसमें दो वंशों - सूर्य वंश और चंद्र वंश - के प्रमुख राजाओं की कथाएँ हैं । ये वे वंश हैं जिनमें स्वयं ईश्वर ने श्री राम और श्री कृष्ण के रूप में अवतार लिया । इसके अतिरिक्त इनमें कुछ कथाएँ ईश्वर के महान भक्तों - जैसे राजा अम्बरीष - से संबद्ध हैं जिन्हें सुनने या पढ़ने से मन परिशुद्ध होता है ।

५. **निरोध स्कंध** (निरोध का अर्थ नियंत्रण और रोकना है) नामक दशम खंड में जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है वृत्तियों पर एवं मन पर नियंत्रण और प्रतिबंध का वर्णन है । यहाँ वासना समाप्त हो जाती है और ईश्वर की कृपा से अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है, सभी सांसारिक चिंतन समाप्त हो जाते हैं और मन एकमात्र ईश्वर के ध्यान या आत्मचिंतन में केंद्रित हो जाता है । ईश्वर की कथाएं सुनकर, मनुष्य का मन समाधि अवस्था में जाने योग्य बन जाता है । **मुक्ति स्कंध** नामक एकादश स्कंध अलग-अलग आध्यात्मिक संघटन (प्रवृत्तियां, स्वभाव, कार्यकुशलता आदि) वाले साधकों के लिए सभी आध्यात्मिक शिक्षाओं का निचोड़ है । इस स्कंध में मुख्य रूप से वैराग्य, सत्संग का माहात्म्य - विवेक, भक्ति और तत्वज्ञान की मीमांसा है । द्वादश और अंतिम खंड आश्रय स्कंध है - एकमात्र भगवान ही अंतिम आश्रय हैं । कुछ लोग इसे दशम स्कंध की तरह ही निरोध-प्रधान मानते हैं । स्वयं ईश्वर ही सभी साधकों और साधनाओं के एकमात्र आश्रय हैं, संपूर्ण जगत के सारभूत हैं, मुक्ति के धाम हैं और संपूर्ण वेदों (धर्मग्रंथों) के आधार हैं । जब विस्तार से यहाँ इसका वर्णन होगा तो यह स्पष्ट होगा कि सभी स्कंधों में बार-बार यही विवेचन हुआ है कि ईश्वर ही एकमात्र और परम आश्रय हैं ।

६. **तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्**
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः
सेवानाच्छ्रवणात्पाठाद्दर्शनात्पापनाशिनी ॥

(भागवत महात्म्य 3-61 व 62)

भागवत की एक महान और विलक्षण विशेषता जिस पर बल दिए जाने की आवश्यकता है वह यह है कि ये पौराणिक कथाएँ, घटनाएँ, प्रशंसापरक स्तोत्र और आध्यात्मिक उपदेश सामान्य पुराणों की तरह नहीं है अपितु **इसमें स्वयं भगवान का सान्निध्य अंतर्निहित है और शब्दों के रूप में इसमें भगवान की अपार शक्ति है ।** भागवत माहात्म्य में ऐसा कहा गया है कि जब भगवान श्री कृष्ण संसार छोड़ने वाले थे तो उन्होंने यह सुनिश्चित करना चाहा कि उनके भक्तों को उनके विरह का अनुभव न हो और इसलिए उन्होंने **अपने तेज से भागवत को अनुप्राणित कर दिया ।**

अब हम भागवत के प्रत्येक स्कंध के संदेश का साक्षात्कार करेंगे ।

अध्याय - I

अधिकारी स्कंध

७. जब राजा परीक्षित को यह शाप ज्ञात हुआ कि आज से सातवें दिन नागराज तक्षक के द्वारा उनकी मृत्यु निर्धारित है तो उनके रोम-रोम से यह तीव्र इच्छा जागी कि उन्हें इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त हो जाए। वे वहाँ एकत्रित सभी संतों एवं आध्यात्मिक पंडितों से पूछते हैं कि सामान्य मनुष्य के लिए विशेष रूप से ऐसे मनुष्य के लिए जो मृत्यु के कगार (किनारा, टीला) पर है, जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु क्या करना चाहिए, क्या सुनना चाहिए, कौन सा मंत्र उच्चरित करना चाहिए और किसका क्या चिंतन करना चाहिए। उनकी तीव्र उत्कंठा एवं उत्कट कामना के कारण उस समय के अनन्य अवधूत (दिगंबर परिव्राजक, लौकिक जीवन से पूर्णतः निंस्संग) शुकदेव वहां आविर्भूत हुए। राजा के द्वारा पूछे गए प्रश्न से शुकदेव बड़े प्रसन्न हुए और उसके उत्तर देने के लिए प्रस्तुत हुए। इस प्रकार भागवत के प्रथम स्कंध का प्रथम संदेश यह है कि **लक्ष्य को प्राप्त करने की तीव्र और उत्कट इच्छा ही वह मुख्य योग्यता है** जिसके कारण गुरुओं की श्रृंखला के श्रेष्ठ गुरु प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में स्वयं गुरु विवश हो जाते हैं कि बिना आमंत्रण के ही वे साधक का दरवाजा खटखटाएँ और दरवाजा खोलने की जिम्मेदारी साधक पर छोड़ दी जाती है। **यदि कोई राजा परीक्षित जैसा साधक हो जो सभी आसक्तियों से विरक्त, एक मात्र मोक्ष के लक्ष्य पर ही बाकी सारे पुरुषार्थ छोड़कर अटल रहे और यदि शुकदेव जैसे गुरु मिले जो निस्पृह निरपेक्ष शरीर का भी भान न होते हुए, आत्मनिष्ठ हो तब मोक्ष हस्तगत फल जैसा (हस्तामलकवत्) सुलभ बन जाता है।** प्रथम स्कंध के ये ही मुख्य संदेश हैं।

८. दूसरा महत्वपूर्ण संदेश यह है कि **आंतरिक सामरस्य एवं सामंजस्य** और **शांति की कामना** रखने वाले साधक के लिए **बाह्य समरसता भी अत्यंत वांछित है।** व्यक्तिगत रूप से **साधक को द्वेष का पूर्ण परित्याग कर देना चाहिए, और घोर अहित करने वालों से भी क्षमा और प्रेम बरतना चाहिए।** इस बात पर द्रौपदी के उपाख्यान में बल दिया गया है। द्रोपदी अपने पति अर्जुन से उस अश्वत्थामा को उस समय जीवन-दान देने की बात करती है, जिस के हाथ द्रौपदी के पाँच मासूम बच्चों के खून से सने हुए थे। यह आश्चर्य की बात नहीं कि ऐसी उत्कृष्ट वंश परंपरा में ही राजा परीक्षित जैसे आदर्श साधक का आविर्भाव हुआ।

९. दूसरा महत्वपूर्ण उपाख्यान उत्तरा का है जो द्रौपदी की पुत्रवधू तथा परीक्षित की माँ है ।

नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् । (I-8-9)

जब प्रतिशोध से भरे हुए अश्वत्थामा द्वारा उत्तरा की कुक्षि में पल रहे भ्रूण को भस्म करने के निमित्त संहारक ब्रह्मास्त्र का प्रक्षेप होता है तो वह अपने ससुराल की दबंग (प्रभावशाली) हस्तियों यानी पांडवों की उपस्थिति को अनदेखा करते हुए बिना शर्त भगवान की शरणागत हो जाती है ।

रक्षिष्यतीति विश्वासः रक्षणे वरणं तथा ।

धर्मग्रंथों में प्रतिपादित शरणागति के कुछ अनिवार्य घटकों का यहाँ उल्लेख हुआ है, वे हैं - १. **दृढ़ विश्वास कि ईश्वर रक्षा करेंगे ।** २. **संकट के समय ईश्वर द्वारा रक्षा की प्रार्थना** और ३. **संपूर्ण समर्पण ।**

१०. इस संबंध में व्यास ने सर्वोच्च शिखर पर नारियों के चरित्र को उठाया है, उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार परीक्षित की माँ उत्तरा, उत्तरा की सास द्रौपदी, द्रौपदी की सास कुंती ईश्वर की भक्ति में एक से बढ़कर एक साबित होती हैं और इसके परिणामस्वरूप उनमें **क्षमाशील स्वभाव एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व की अन्य विशेषताओं का बिना शर्त उदय होता है ।** परीक्षित की महान्दादी कुंती द्वारा गाए गए स्तुतिपरक स्तोत्रों में भी परोक्ष साधना की युक्तियां निहित हैं ।

११. विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो । (I-8-25)

कुंती द्वारा की जाने वाली स्तुति के स्तोत्रों में उपर्युक्त पंक्ति प्रायः दुहराई जाती है । अपनी अननुकरणीय शैली में कुंती ईश्वर से एक अनूठा वरदान मांगती है । वह ईश्वर से अनुनय करती है कि उसे विपत्तियों की श्रृंखला प्रदान करें । इसके पीछे संदेश यह है कि **प्रत्येक विपत्ति या त्रासदी सदा कृपालु ईश्वर की ओर से साधक को अज्ञान के व्यामोह से जगाने हेतु दिया जाने वाला विद्युत झटके का उपचार है** - यह इस बात का पक्का संकेत है कि करुणामय ईश्वर का साधक पर पूरा ध्यान है और ईश्वर लौकिक जीवन की निराशाओं और झटकों से परे आध्यात्मिक पथ पर तीव्र प्रगति की ओर साधक के मन को मोडने का प्रयास करते हैं ।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥ (I-8-26)

ऊपर उद्धृत श्लोक में कुंती देवी कृष्ण से कहती हैं : "ऐसा व्यक्ति जो अहंकार से भरा है और जिसे अपने उच्च कुल, ज्ञान और धन का मद है, वह आपके नामोच्चार तक का अधिकारी नहीं है । आप दीन और विनम्र लोगों की पहुँच के भीतर हैं । उनके लिए आपकी तलाश आसान है । **आध्यात्मिक उन्नति के लिए विनम्रता एक अनिवार्य शर्त है ।** इस संदर्भ से बाइबिल की यह उक्ति याद आती है - "धनी मनुष्य का स्वर्ग के दरवाजे से गुजरने की तुलना में ऊँट का सूई के छेद से गुजर जाना आसान है ।"

१२. दूसरे श्लोक में कुंती भगवान से कहती है - "भगवन, अनेक बार आपने हमारी रक्षा की - जब मेरे पुत्र भीम को विष दिया गया, जब हमारा घर जलाया गया, जब एक राक्षस द्वारा भीम को ललकारा गया, जब दुष्टों की सभा में द्रौपदी निर्वस्त्र और अपमानित की जा रही थी, जब हम वनवास भोगते हुए विपत्तियों का सामना कर रहे थे, जब महाभारत युद्ध में महान योद्धाओं के अमोघ अस्त्रों का मेरे पुत्रों पर संधान हुआ ऐसे सब संकटों से तथा अंततः जब गर्भ में स्थित हमारे वंशज के एकमात्र अवशेष की आपने अश्वत्थामा के अस्त्र से रक्षा की" (I-8-24) । ध्यान के लिए यह हमें एक अच्छा सूत्र प्रदान करता है । हममें से कई अपने जीवन की अनेक ऐसी परिस्थितियों की सदा याद कर सकते हैं जब किसी विपत्ति ने हमें बुरी तरह भयभीत कर दिया था और ऐसी परिस्थितियां बन गई थीं, जिनमें कोई भी सांसारिक शक्ति हमें नहीं बचा सकती थीं लेकिन अंतिम क्षण में ईश्वरीय हस्तक्षेप के द्वारा विपत्ति टल गई । **शांत होकर बैठना और अविचल मन से इन घटनाओं के बार-बार स्मरण द्वारा ईश्वर के प्रति आभार व्यक्त करना भगवान के ध्यान की एक आसान युक्ति है ।** भागवत में इस युक्ति का अन्यत्र भी संकेत किया गया है जहाँ गोपिकाएँ गाती है, रोती हैं और उन विविध अवसरों को याद करती हैं जब भगवान कृष्ण ने उन्हें खतरे से बचाया था ।

१३. इस स्कंध के अध्याय ८ के अंत के एक श्लोक में कुंती भगवान से प्रार्थना करती है कि अपने पुत्रों और संबंधियों के प्रति दृढ़ आसक्ति से उसके चित्त को छुड़वाकर भगवान की ओर लगवा दें । **ईश्वर-अनुभूति के लिए अनिवार्य अनासक्ति को बिना ईश्वर की कृपा के हमारे लिए सिर्फ अपने ही प्रयत्नों से पूर्णतः प्राप्त कर लेना**

आसान नहीं है । इसलिए अपने सगे-संबंधियों के प्रति भ्रामक आसक्ति से मुक्ति के लिए सहायता (कृपा) की याचना करते हुए हमें बार-बार ईश्वर से प्रार्थना करनी होगी । ईश्वर के प्रति प्रार्थना के प्रभाव पर भागवत में बार-बार परोक्ष रूप से बल दिया गया है । हमारी आध्यात्मिक साधना के क्रम में जो भी समस्याएँ आती हैं - **उपयुक्त परिवेश का अभाव, एकाग्रता का अभाव, निद्रा के कारण बाधा या अन्य कारण - उन सभी का सच्ची प्रार्थना के द्वारा समाधान हो सकता है । इस प्रकार प्रार्थना एक बल है,** सभी प्रयोजनों के लिए उपयुक्त, साधक के हाथ का हथियार है और **अभ्यास के द्वारा इसके लाभों को सहजता से अनुभूत किया जा सकता है ।**

१४. वेदव्यास परोक्ष रूप से साधकों को हिंसा, कामुकता, घृणा, हत्या आदि प्रसंगों से युक्त पुस्तकों से बचने की प्रेरणा देते हैं और मात्र ऐसी चीजें पढ़ने की अनुशंसा करते हैं जिसमें भगवान की महिमा का एवं उनके नामों का वर्णन हो । अपने मन को हर तरफ से मोड़कर भगवान में लगाने की दृष्टि से हमें उपन्यास, कामुकता, अपराध आदि विषयों की व्यर्थ या घटिया पुस्तकें - दुर्भाग्य से नई पीढ़ी के बडे वर्ग को जिसका व्यसन हो गया है, उनको पढने की आदत छोड़नी होगी क्योंकि यह मन को आध्यात्मिक लक्ष्य से दूर ले जा सकता है ।

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः । (I-5-11)

इसमें व्यास जी का कहना है कि "बुद्धिमान और पवित्र लोग सिर्फ ऐसी पुस्तकें पढ़ते सुनते और उनकी प्रशंसा करते हैं जो भगवान के नामों से एवं उनकी महिमा से परिपूर्ण हो । भले ही ऐसी पुस्तकों का प्रत्येक परिच्छेद व्याकरणिक अशुद्धि से भरा हो फिर भी इसमें सभी पापों को पवित्र बनाने की क्षमता होती है ।"

१५. नारद ऋषि के प्रारंभिक जीवन की कहानी भी सत्संग - पवित्र व्यक्तियों की संगति - एवं ऐसे व्यक्तियों अर्थात् ईश्वर के भक्तों की सेवा के महत्व का प्रतिपादन करती है । पिछले जन्म में नारद एक धर्मशाला की सेविका के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए थे । बचपन

में वे उस धर्मशाला में चातुर्मास्य के दिनों में टिकने वाले साधु-संतों की स्वेच्छा से सेवा करते और उनके द्वारा कही जाने वाली भगवत्-कथा सुना करते थे । उनमें से एक संत ने बालक को ईश्वर के मंत्र की दीक्षा प्रदान की । कठोर तप एवं ध्यान के परिणामस्वरूप यह बालक अगले जन्म में स्वयं सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के औरस पुत्र बने और देवर्षि पद को प्राप्त हुए । सत्संग की अद्भुत महिमा पर भागवत में अनेक स्थलों पर बल दिया गया है ।

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् । (V-12-13)

पंचम स्कंध में राजा रहूगण को प्रबोधन देते हुए जड़ भरत कहते हैं - "कोई चाहे जितना तप, ध्यान, वैदिक अनुष्ठान करे, सूर्य देव अग्नि देव या अन्य देवों की पूजा करे, बलिदान करे, गृहस्थ जीवन का त्याग कर घर से निकल जाए लेकिन ईश्वर की अनुभूति नहीं प्राप्त कर सकता । ईश्वरानुभूति सिर्फ संत जनों के पवित्र चरणों की धूल के बार-बार संस्पर्श से ही प्राप्तव्य है ।" पुनः ग्यारहवें स्कंध में (XI-12-1 और 2) श्री कृष्ण उद्धव को अपना अंतिम संदेश देते हुए घोषणा करते हैं - "कोई भी योग, पुण्य कार्य, वेदाध्ययन, व्रत, वैदिक अनुष्ठान, तीर्थयात्राएँ, दरिद्रों एवं जरूरतमंदों की सेवा या आध्यात्मिक अनुशासन हमें ईश्वर के समीप उतनी आसानी से नहीं पहुँचा सकता जितना सत्संग । **संसार की आसक्ति से छूटने का सबसे सरल साधन है सत्संग ।**

१६. भगवद् गीता का प्रथम अध्याय विषाद योग है जिसका अर्थ है विषाद (दुःख) का यौगिक पथ । अपने ही गुरुओं, निकट संबंधियों एवं अन्य से युद्ध की नौबत उपस्थित होने पर अर्जुन विषाद-ग्रस्त हो गए । गीता के रूप में ज्ञान के रहस्योद्घाटन के द्वारा अर्जुन का विषाद आध्यात्मिक सोपान पर आरोहण का प्रस्थान बिंदु बना । इसी प्रकार सिर्फ सात दिन की जीवन-अवधि के आकस्मिक शाप से ग्रस्त परीक्षित अपने पाप कर्म के रूप में प्राप्त शाप पर जब विषण्ण (विषादग्रस्त) हुए तो उनके विषाद के परिणामस्वरूप उन्हें श्री शुकदेव द्वारा कथित भागवत का अमित कोष प्राप्त हुआ । **मनुष्य को अपने हर दुःख, हर संकट को आध्यात्मिक सोपान पर आरोहण का निमित्त बनाना चाहिए ।** संसारिक आसक्तियाँ तो एक संकट से दूसरे संकट में फँसाती रहेंगी और उनसे विरक्त होना अनिवार्य है ।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के बुद्धिमत्तापूर्ण परामर्शों, व्यावहारिक युक्तियों और विचक्षण संदेशों के इन दुर्लभ रत्नों से कीलित, रक्षित और धनी आधुनिक साधक, स्वयं वरण किए गए अपने आध्यात्मिक पथ पर अब अग्रसर हो सकता है और यह देख सकता है कि **आगे के साधना स्कंध में उसके लिए कौन-से अमूल्य कोष प्रस्तुत होनेवाला है ।**

साधना स्कंध

१८. तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ (II-1-5)

एतावान् साख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥ (II-1-6)

साधना स्कंध का प्रारंभ प्रथम स्कंध में राजा परीक्षित द्वारा पूछे गए प्रश्न के प्रत्यक्ष और स्पष्ट उत्तर से होता है । शुकदेव बताते हैं - "एकमात्र परम तत्व ईश्वर, जो सभी प्राणियों में आत्म तत्व के रूप में व्याप्त हैं, को ही अनवरत स्मरण किया जाना चाहिए । अभय और आनंद की परम अवस्था प्राप्त करने के लिए उनकी महिमा और उनके नाम का वर्णन और कीर्तन करना चाहिए । यहाँ तक कि मृत्यु शय्या के अंतिम क्षण में भी ईश्वर के स्मरण से ही जीवन लक्ष्य सिद्ध हो जाता है । सभी साधनाओं का मर्म है परमतत्व या आत्मतत्व का अनवरत स्मरण । भगवान या परम तत्व शब्द का तात्पर्य सिर्फ मंदिर में या मूर्ति में रहने वाली सत्ता से नहीं है, इसके द्वारा उस ईश्वर पर बल है जो सबके आत्मतत्वके रूप में विद्यमान है और जो सभी प्राणियों - चाहे वे पक्षी हों या पशु या कीडे या मनुष्य हो - में है । **यह सर्वात्मभाव जिसमें यह मान्यता है कि ईश्वर सभी प्राणियों का, जिनमें साधक भी शामिल हैं, आत्मतत्व है, स्वयं ही हमें किसी के प्रति आसक्ति और किसी के प्रति घृणा, भय, इच्छा, द्वेष, हिंसा, क्रोध, लोभ आदि समस्त वासनाओं से मुक्त कर देगा,** क्योंकि संपूर्ण विश्व में साधक अपनी आत्मा से अभिन्न किसी वस्तु को नहीं देख सकेगा ।

१९. पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः ॥
तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥ (I-2-2)

भागवत में इस सर्वात्मक भाव के दो उदाहरण मिलते हैं

पहला उदाहरण है भागवत कथा के आरंभ में सूत के उस प्रार्थनापरक गीत में जहाँ शुकदेव के बारे में एक सुंदर उपाख्यान है । अपनी माँ के गर्भ में सोलह वर्ष तक रहने के बाद शुकदेव ज्योंही उत्पन्न हुए, उन्होंने अपने माता-पिता और अपने घर-बार को त्याग दिया और

वन की ओर दौड़ पड़े । उनके पिता ऋषि वेदव्यास ममता और दुख से अभिभूत होकर 'हापुत्र, हा पुत्र' पुकारते हुए शुकदेवके पीछे दौड पडे । शुकदेव उस उन्नत अवस्था में अवस्थित थे, जिसमें उन्होंने अपने परिवेश के सभी प्राणियों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था, इसलिए उनके आस-पास के सभी पेड़-पौधे उनकी ओर से वेदव्यास से लौट जाने के लिए कहने लगे ।

दूसरा उदाहरण चौथे स्कंध (IV-8-80) में है । संपूर्ण ब्रह्मांड का आत्म तत्व के रूप में ध्यान करने वाले और अपने श्वास - प्रश्वास का निरोध करने वाले पंचवर्षीय बालक ध्रुव के कठोर तप का वर्णन व्यास करते हैं । चूँकि ध्रुव ने संपूर्ण ब्रह्मांड के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था, ध्यान करते हुए जब उसने अपना श्वास अवरुद्ध किया, विश्व के सभी प्राणियों का श्वसन भी अवरुद्ध हो गया और वे अपने आपको जीवित रखने के लिए तड़पने लगे ।

तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् । (VII-14-36)

सातवें स्कंध के चौदहवें अध्याय में नारद कहते हैं - ईश्वर ही सभी प्राणियों के मूल हैं, अतः सभी प्राणियों की सेवा ही ईश्वर की सेवा ।

२०. प्रसंगवश परीक्षित के प्रश्न का उत्तर देते हुए शुकदेव इस बात पर बल देते हैं कि **जो अभय की अवस्था में पहुँचना चाहते हैं और जो वैराग्यके अभिलाषी हैं, उनके लिए ईश्वर का नाम-जप और नाम-संकीर्तन एक सुगम पथ है ।** षष्ठ स्कंध में इस पहलू का विस्तार से विवेचन होगा ।

२१. साधना स्कंध में दो प्रकार के ध्यान का वर्णन हुआ है - (क) **ईश्वर के विश्व रूप का ध्यान** जिसमें यह परिकल्पना है कि पाताल उनके चरण हैं, विविध नदियाँ उनकी रक्त शिराएँ हैं, पर्वत उनके कंकाल हैं आदि-आदि और (२) अपनी कल्पना को पूरी स्वतंत्रता देते हुए ईश्वर के स्वरूप के अंग-प्रत्यंग का ध्यान - उनके चरणों के दर्शन (प्रत्यक्षीकरण) से आरंभ करते हुए, फिर उनके नखों एवं अंगूठों, उनकी पिंडलियों एवं पैरों, घुटनों, कमर, हाथों, वक्ष, चिबुक, कानों, नाक, आंखों, बाल आदि का ध्यान । **जो साधक ईश्वर के साकार रूप में विश्वास करते हैं, वे जब तक पूर्णतः भक्ति** पथ अर्थात् भक्ति योग (II-2-8 से 14) **में प्रतिष्ठित नहीं हो** जाते तब तक ऊपर वर्णित दूसरे प्रकार का ध्यान उनके अभ्यास के लिए सुगम साधना है । साधक द्वारा ज्ञान मार्ग अपनाने के लिए मन पर नियंत्रण, इंद्रियों पर नियंत्रण, वैराग्य, विवेक आदि जैसे विशेष गुण अनिवार्य शर्त हैं । भक्ति पथ का अनुसरण

करने वाले साधकों से एकमात्र अपेक्षा है **ईश्वर को अपनी आँखों से देखने की प्रबल उत्कंठा और उत्कट लालसा से युक्त अपने मन से अन्य विचारों को निकालते हुए मन में ईश्वर के चरण कमलों को दृढ़ता से पकड रखना ।**

२२. न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यतया धृतो हरिः ॥ (II-6-33)

ईश्वर के चरणों को अपने मन में दृढ़ करने का यह विचार उस समय सुंदरतापूर्वक स्पष्ट किया गया है जब सृजनकर्त्ता ब्रह्मा अपने पुत्र नारद से कहते हैं - "स्वाभाविक रूप से मेरे मुँह से कभी असत्य नहीं निकलता, मिथ्या वस्तुओं के पीछे मेरा मन नहीं दौड़ता और मेरी इंद्रियां मुझे कभी कुपथ पर नहीं ले जाती, इन सबका एक मात्र कारण यही है कि मैं **भगवान को उत्कट उत्कंठा के साथ अपने मन में प्रतिष्ठित किया हुआ हूँ ।**" इस प्रकार साधक के लिए अपेक्षित सारे गुण स्वतः प्राप्त हो जाते हैं ।

२३. परंपरागत रूप से द्वितीय (साधना) स्कंध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग है 'चतुःश्लोकी भागवतम्' (II-9-32 से 35) जिसमें चार छोटे-छोटे श्लोकों में भगवान नारायण सृजनकर्ता ब्रह्मा के समक्ष निम्नलिखित भागों में भागवत के संपूर्ण दार्शनिक तत्व प्रतिपादित करते हैं -(१) **ब्रह्म तत्त्व** (२) **माया तत्त्व** (३) **जगत् तत्त्व** और (४) **जिज्ञास्य तत्त्व** ।

(१) ब्रह्मांड के अस्तित्व ग्रहण करने के भी पूर्व, सृष्टि के भी पूर्व, परम सत्ता अर्थात् ब्रह्म का ही अस्तित्व था । जब संपूर्ण ब्रह्मांड महाप्रलय में विलीन हो जाता है तब भी यह अस्तित्व बना रहता है - **(ब्रह्म तत्त्व)** ।

(२) बिना किसी वास्तविक सत्ता के जो आत्मतत्व के ऊपर भासता है (भ्रांति के कारण मिथ्यारोप) - जिस प्रकार अंधकार में पड़ा रज्जु (रस्सी) सर्प प्रतीत होता है - वह माया (भ्रम में डालने वाली ईश्वर की शक्ति) है - **(माया तत्त्व)** ।

(३) ईश्वर जो संपूर्ण ब्रह्मांड के उपादान (जिससे वस्तु बनती है) कारण हैं, सभी प्राणियों में अंतर्भूत हैं और वे उन सबसे परे भी हैं - **(जगत् तत्त्व)** ।

(४) जो सत्ता सर्वत्र और सतत विद्यमान है, उनके संधान के लिए अर्थात् वास्तविक ज्ञान के सच्चे अभिलाषी के लिए जो ज्ञेय है उसको जानने के लिये, इस भाग में अन्वय और व्यतिरेक अर्थात् जो वस्तु सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है (अन्वय) परंतु साथ ही साथ इन सबसे भिन्न भी है (व्यतिरेक), पद्धति का प्रयोग करते हुए उसका विवेचन हुआ है - **(जिज्ञास्य तत्त्व)** ।

ज्ञान क्रियान्वयन स्कंध

२४. पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन् ॥ (III-2-3)

तृतीय स्कंध से भागवत के विविध स्थलों पर विशेष तौर से इस बात पर बल दिया गया है कि जब कोई किसी से प्रश्न पूछता है तो **उत्तर देने वाला व्यक्ति उत्तर देने के पहले कुछ क्षणों के लिए भगवान का स्मरण करता है** । सभी साधकों द्वारा अपने दैनिक जीवन में सहजता से अपनाए जाने योग्य यह एक अच्छी युक्ति है । इस प्रकार यदि कोई हमसे किसी प्रकार का प्रश्न पूछे (भले ही वह तुच्छ सांसारिक बात हो), हमें यह अभ्यास बना लेना चाहिए कि उत्तर देने के पूर्व हम ईश्वर का स्मरण करें और प्रभु के नाम का उच्चारण करें । **अपना उत्तर समाप्त करने के बाद भी पुनः एक बार हमें ईश्वर के नामोच्चार का अभ्यास बना लेना चाहिए** । ईश्वर के सतत स्मरण की दृष्टि से यह अभ्यास काफी उपयोगी सिद्ध होगा । इस प्रकार कोई भी उत्तर देने के पूर्व मन से भी राम का (प्रभु के किसी इष्ट नाम का) स्मरण करें और उनका नाम लें तथा उत्तर समाप्त करने के बाद भी मानसिक रूप से प्रभु के नाम का उच्चारण करना चाहिए । भागवत के इस अद्भुत संदेश में हम सबके द्वारा आसानी से अपनाए जाने योग्य एक सरल युक्ति का उल्लेख हुआ है । विदुर और उद्धव तथा विदुर और मैत्रेय के बीच की सभी वार्ताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि सारी चर्चाएं तथा वार्ताएँ केवल भगवान के प्रति तथा अन्य आध्यात्मिक विषयों पर होनी चाहिए और इन चर्चाओं की परिणति कभी भी गप्प-शप्प या सांसारिक मामलों में नहीं होनी चाहिए । आधुनिक युग में प्रत्येक साधक के लिए **यह आवश्यक है कि जब वे मित्रों से मिलें या अन्य सामाजिक अवसरों पर एकत्र हों तो सांसारिक बातों से बचें और वे निरपवाद रूप से अपनी वार्ता को आध्यात्मिक विषयों की ओर मोड दें ।**

२५. 'मैं' और 'मेरा' के भावों के फल स्वरूप निःसृत दुःखों से जैसे धन-संपत्ति, घर-बार, मित्र, सगे - संबंधी आदि के भयों से तथा मृत्युशोक, तृष्णा, विफलता, लालचजन्य दुखों से यदि हम बचने के इच्छुक हों तो हमें भगवान की शरण में चले जाना चाहिए । (II-9-6).

२६. भागवत की एक अत्यंत सामान्य किंतु महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके

अधिकांश चरित्रों के नाम यादृच्छिक नहीं हैं । विभिन्न उपाख्यानों के माध्यम से उन नामों का गहरा प्रतीकात्मक अर्थ ध्वनित होता है । उदाहरणार्थ दो भयानक दानवों के नाम - **हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु - क्रमश: 'धन का लोभ' और 'भोग की लालसा' - इन दानवी वृत्तियों को अभिव्यक्त करते हैं ।** हिरण्याक्ष का अर्थ है वह जिसकी लोलुप आँखें (अक्ष) हिरण्य यानी स्वर्ण पर केंद्रित रहती हैं और हिरण्यकशिपु का अर्थ है वह जिसका पलंग (कशिपु) स्वर्ण (हिरण्य) - निर्मित है । **स्वभावत: लोभ या भोग संपूर्ण विश्व को वशीभूत करने का प्रयत्न करता है और सिर्फ भगवान के हाथों से ही उसकी मृत्यु संभव है ।** इसी प्रकार षष्ठ स्कंध में अजामिल का उपाख्यान वर्णित है । **अजामिल का अर्थ है वह व्यक्ति जो अजा (माया) में लिप्त (मिला हुआ) है और उसी में निमग्न है ।**

२७. वाराह-अवतार की कथा - जिसमें भगवान वराह अर्थात् सूअर के रूप में अवतार ग्रहण करते हैं - यह प्रदर्शित करती है कि वे (भगवान) सभी प्राणियों में व्याप्त हैं ओर वे सूअर जैसे तुच्छ प्राणी के माध्यम से भी अपने को कभी भी अभिव्यक्त कर सकते हैं ।

२८. पुनः तृतीय स्कंध के परवर्ती भाग में देवहूति अपने ही पुत्र कपिल - जो भगवानके अवतार थे - के चरणों में पूर्ण समर्पण कर देती है और उन्हें अपने गुरु के रूप में देखती है । कपिल अपनी माँ को विस्तृत उपदेश देते हैं जो सांख्य दर्शन के नाम से विख्यात है (कपिल के नाम से विख्यात सूत्रों के सांख्य दर्शन से यह भिन्न है) । कपिल के उपदेश की मुख्य बातें हैं :

चेत: खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ।। (III-25-15)

बंधन और मुक्ति (मोक्ष) दोनों का कारण मन ही है । यह (मन) वह चक्का है जिसे यदि सांसारिक वस्तुओं की ओर मोड़ दिया जाय तो बंधन ग्रस्त करता है और यदि भगवान की ओर मोड़ दिया जाय तो मुक्ति प्रदान करता है । भगवान में मन को सतत लगाए रखने के निमित्त यह आवश्यक है कि मन को अहंकार - जो 'मैं' ओर 'मेरा' के रूप में प्रकट होता है - से उत्पन्न होने वाली लोकैषणा (ख्याति या यश की कामना), लोभ आदि विकारों से परे और पवित्र रखा जाए (III-25-16) । सांसारिक वस्तुओं के प्रति मन का 'मेरापन' की आसक्ति से मुक्ति पाने के लिए साधु संगति (सत्संग) की शरण अनिवार्य है । यह **सत्संग मुक्ति का प्रत्यक्ष द्वार है । इस सत्संग की आसक्ति ही अंतत: अनासक्ति की ओर ले जाती है** (III-25-20 और 24) ।

२९. अब यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि साधु महात्मा की पहचान कैसे ली जाए । ऐसे साधु पुरुष में **अपार सहिष्णुता** होती है, ऐसे व्यक्ति **सर्वदा शान्त** एवं **प्रकृतिस्थ** रहते हैं ये सभी **प्राणियों के मित्र** होते हैं, इनका **कोई शत्रु नहीं होता,** और ये **परम दयालु** होते हैं । इन में भगवान के प्रति **अचल भक्ति** होती है और भगवान के लिए अपने **सगे-संबन्धियों का तथा अपने कार्य-कलापों का भी परित्याग** कर देते हैं । किसी भी सीमा तक वे दु:ख झेल सकते हैं और अपना पूरा समय भगवान की महिमा के श्रवण या कीर्तन में व्यतीत कर देते हैं । अपने आप को भगवान के श्रीचरणों में बिना शरत समर्पित करके, वे **पूर्ण रूप से भगवान पर निर्भर** हो जाते हैं । मनुष्य को ऐसे ही साधु-महात्माओं की संगति पाने के लिये सतत प्रयत्नशील रहे (III-25-21,22 और 23) ।

३०. कपिलदेव सर्वव्यापी भगवान के सान्निध्य का अनुभव तथा साधना के रूप से भगवान से वार्तालाप करने के अभ्यास का उल्लेख करते हैं । वे कहते हैं कि **साधना की एक विशेष अवस्था में भक्त भगवान के विविध दिव्य रूपों के दर्शन करते** हैं जो वरदान के सक्षम होते हैं और भक्त भगवान के इन रूपों से **प्रत्यक्ष वार्तालाप** कर सकते हैं (III-25-35) । इस बीसवीं सदी में भी रामकृष्ण परमहंस उसके इतिहासकार महेन्द्रनाथ गुप्त और परमहंस योगानन्द जैसी प्रसिद्ध विभूतियाँ हो चुके हैं जो माँ भगवती से प्रत्यक्ष रूप से बातचीत किया करते थे ।

३१. ऐसे भक्तों को अपने विषय में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती और न ही वे अपने शरीर की ही परवाह करते है क्योंकि शरीर के सारे कार्य कलाप, इसका पोषण और इसकी अवस्था भगवान की इच्छा द्वारा सब कुछ पूर्व नियोजित और पूर्वनिर्धारित होती है । ईश्वर अनुभूति में सबसे बडी और असीम बाधा है अपने शरीर के प्रति आसक्ति । कपिल देव जीवन्मुक्त पुरुष की उस अवस्था का वर्णन करते हैं जो अपने ही वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं और जिसे अपने शरीर का भान ही न रहा हों ।

''पूर्ण जीवन्मुक्त पुरुष को अपने शरीर के अस्तित्वता का ही भान नहीं रहता चाहे वह बैठा हो या खडा हो । **भगवान की इच्छा (प्रारब्ध) के अनुसार जन्म के समय एक शरीर प्राप्त करता है और मृत्यु के समय उसका परित्याग कर देता है ।** परन्तु सिद्ध पुरुष को इनका आभास ही नहीं होता जैसे कि नशे में डूबे हुए शराबी को यह भान नहीं रहता कि उसने कपडे पहन रखे हैं या वह नग्न हैं'' (III-28-37) । अरुणाचल के रमण महर्षि द्वारा तमिल और मलयालम में अनूदित थोडे से आकस्मिक श्लोकों में यह भी एक है ।

पुरुषार्थ स्कंध

३२. क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो ।
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ॥ (शिव महिम्न स्तोत्र)

चतुर्थ स्कंध के पहले उपाख्यान में दक्ष प्रजापति एवं उनके द्वारा किए जाने वाले विशाल यज्ञ (यजन) के विध्वंसकी चर्चा है । इसके द्वारा यह निदर्शित किया गया है कि कोई भी **वैदिक अनुष्ठान या अन्य धार्मिक कार्य - वह चाहे जितनी भी भव्यता से किया गया हो - तब तक फलदायी नहीं है जब तक उसमें भगवान के प्रति श्रद्धा और भक्ति भी निहित न हो क्योंकि भगवान ही सभी अनुष्ठानों, सभी वस्तुओं और सभी कार्यकलापों के सारभूत हैं ।**

साधना के एक स्तर पर पहुँचकर हमें सांसारिक व्यक्तियों की संगति और ऐसी हर चर्चा और वार्ता छोड़ देनी चाहिए जो हमारे आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में सहायक न हो । भगवान शिव की पत्नी सती ने ईश्वर-द्रोही पिता की पुत्री होने की अपमानजनक स्थिति से बचने के लिए योगाग्नि में आत्म-दाह का विकल्प चुना (IV-4-22) । संपूर्ण भागवत के लगभग सभी उपाख्यानों में व्यासजी बार-बार इस बात पर बल देते है कि **भगवान के प्रति अनुरक्ति (प्रेम) और भगवान का सतत स्मरण ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है ।**

३३. बालक ध्रुव से संबंधित दूसरे उपाख्यान में माँ सुनीति द्वारा बेटे ध्रुव को दिया गया परामर्श सभी साधकों द्वारा अपनाए जाने योग्य है । वह कहती है - **''दूसरों के प्रति रंचमात्र (थोडा) भी दुर्भावना मत रखो,** भले ही दूसरों ने तुम पर चाहे जैसा भी आघात किया हो या तुम्हारी भावनाओं को चाहे जितना ही आहत किया हो । कर्म सिद्धांत का विधान है कि ''दूसरों का अहित करने वालों या दूसरों को कष्ट में डालने वालों का हिसाब उस दिन पूरा हो जाता है जब उसका किया गया कर्म पुनः उसी पर प्रतिक्रिया के रूप में प्रतिघात करता है ।'' अतः **साधक को अहित करने वालों के प्रति भी दुर्भाव या घृणा नहीं रखनी चाहिए ।** एक साधक को ऐसे आश्रय को पाने का प्रयास करना चाहिए जिससे वह सभी तरह के दुःखों तथा संकटों से मुक्त हो जाय । ऐसा एकमात्र आश्रय केवल भगवान ही हैं ।

मामङ्गलं तात परेषु मंस्था ।
भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत् ॥ (IV-8-17)

आराधयाधोक्षजपादपद्मं ।
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥ (IV-8-19)

''भगवान की शरण में जाओ और उनकी भक्तिपूर्ण प्रार्थना करो । संपत्ति, ख्याति, प्रगति, उद्यमों में सफलता आदि सभी मनःकामनाओं की पूर्ति होगी । भगवान भक्त को अत्यंत असंभव वरदान भी देते हैं ।''

३४. जब तक सभी वासनाओं का क्षय नहीं हो जाता तब तक हमारे लिए सभी सांसारिक इच्छाओं का त्याग कर पाना संभव नहीं है । **प्रारंभिक अवस्था में भगवान से अपनी इच्छाओं की पूर्ति की अपेक्षा करने में कोई हानि नहीं** है, क्योंकि भक्त के लिए वही माता-पिता, प्रभु और सर्वस्व हैं । जो मनुष्य भगवान से अपनी भौतिक (सांसारिक) आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है (जिसे अर्थार्थी कहते है), भगवद् गीता में उसकी गणना भी भगवान के चार प्रकार के भक्तों में की गई है । **भगवान का सतत नाम लेने और उनका स्मरण करते रहने से एक ऐसे समय का उदय होगा जब मन पवित्र हो जाएगा और साधक सभी इच्छाओं, यहाँ तक कि मोक्ष की इच्छा से भी मुक्त हो जाएगा ।**

३५. पाँच वर्ष का बालक ध्रुव भगवान की आराधना और तप करने के लिए कृतसंकल्प था, यद्यपि इस पथ पर चलने के विषय में उसे कोई ज्ञान नहीं था । प्रथम अध्याय में वर्णित परीक्षित की भाँति ही ध्रुव में भी लक्ष्य प्राप्ति के प्रति एक प्रबल संकल्प है और इसलिए अज्ञात वन में आने वाले कष्ट की आशंकाओं से वह विचलित नहीं होता । भगवान के दर्शन के लिए ध्रुव की सच्ची और तीव्र लालसा ने समर्थ गुरु को आकर्षित किया और उनके आगमन को संभव बना दिया । वन के रास्ते में उस बालक को संत नारद मिले और भगवान प्राप्ति के उसके संकल्प की दृढ़ता की परीक्षा करने के बाद उन्होंने उसे दीक्षा दी और सभी आवश्यक निर्देश दिये । **ध्रुव का अर्थ ही होता है दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति** और इस बालक के लिए यह नाम पूर्णतः सार्थक है । हम यहाँ देखते हैं कि गुरु की तलाश की आवश्यकता उस बालक को नहीं पड़ी - वस्तुतः उसने गुरु को अपनी प्राथमिक आवश्यकता कभी समझा ही नहीं । गुरु हमेशा आंतरिक होते हैं, जैसा कि रमण महर्षि ने प्रतिपादित किया है और वे **(गुरु) साधक की आवश्यकता, आकांक्षा और लालसा के अनुसार बाह्य रूप में प्रकट होते** हैं । **मनुष्य को भगवान की प्राप्ति के लिए बिलकुल बालक बनना पड़ता** है और उनके लिए रोना और तरसना पड़ता है ।

३६. सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता ।
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥ (IV-9-1)

ध्रुव के अथक अध्यवसाय और कठोर साधना, जिसमें भूख-प्यास जैसी सभी शारीरिक आवश्यकताओं की उपेक्षा की गई थी, ने भगवान को इस कदर आकर्षित किया कि विश्व के इतिहास में कदाचित् यही ऐसी अनोखी घटना है कि स्वयं भगवान ने एसे अनन्य शिशु भक्त के दर्शनानन्द का अनुभव करने के लिये सहस्रसिर व आँखोंवाला विराट रूप लेकर ध्रुव के सामने प्रकट हुए । कदाचित्, उन्होंने यह सोचा कि पाँच वर्ष के इस असाधारण भक्त, जिसने अपने अवरुद्ध श्वाँस में संपूर्ण ब्रह्मांड को साँसत बहुत अधिक कष्ट में डाल दिया, को देखना ही चाहिए और वह भी मात्र दो नेत्रों से नहीं अपितु सहस्रों नेत्रों से । भागवत में यह प्रतिपादित किया गया है कि वे (भगवान) न सिर्फ बालक भक्त को दर्शन देते हैं, अपितु ऐसे विलक्षण भक्त के वे स्वयं भी दर्शनाभिलाषी हुए । ऐसे विलक्षण भक्त की जय हो ।

३७. महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो ।
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥ (IV-20-4)

राजा पृथु के उपाख्यान में भगवान से उनका वार्तालाप एक अद्भुत आलोक बिखेरता है । सबसे आसान साधना यह है कि साधु पुरुषों की संगति में रहा जाय और भगवान का गुणगान सुना जाय । इस प्रकार का अधिकाधिक श्रवण भी कभी अति नहीं हो सकता । इसीलिए पृथु, भगवान से दस सहस्र कानों का वरदान मांगते हैं ताकि महान् संतों के हृदय से प्रत्यक्ष निःसृत होने वाले और उनके श्रीमुख से शब्दों के रूप में प्रकट होने वाले भगवान की लीलाओं की महिमा के अमृत-रस का वे आस्वादन कर सकें ।

३८. अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः । (IV 28-62)

प्रत्येक पृथक् आत्मा ब्रह्म अर्थात् परम सत्ता ही है । इच्छाओं के कारण ही यह शरीर-मन-बुद्धि के समुच्चय के रूप में प्रकट होता है, यह अपना मूल रूप और अपनी प्रकृति भूल जाता है और शरीर, मन और बुद्धि इन तीनों के साथ एकीभूत होकर अपने आप को शरीर, मन आदि समझने लगता है । इस गलत पहचान के कारण बुढ़ापा, शोक, मृत्यु आदि से अनेक दुःख और संकट उत्पन्न होते हैं । कोई आत्मा परमात्मा (भगवान) को भले ही भूल जाए लेकिन परमात्मा (भगवान) जीव को एक क्षण के लिए भी नहीं भूलता । करुणावश भगवान गुरु या शुभचिंतक किसी के रूप में एक जन्म या दूसरे जन्म में स्वयं को ही प्रकट करते हैं और उसे बताते हैं - ''मैं तुम हूँ, तुम मेरे अलावा और कुछ नहीं हो और तुम 'मैं' ही हो ।''

यह महत् सत्य पुरंजन-उपाख्यान के माध्यम से एक रूपक-कथा के रूप में रूपायित किया गया है । पुरंजन एक हंस था जो एक अन्य हंस के साथ रहता था और जिसका नाम अज्ञात था । अव्यक्त था । पुरंजन कहीं जाता है और एक सुंदर युवती से मिलता है, जिससे वह विवाह कर लेता है और उससे बच्चे उत्पन्न होते हैं । वह दुनियादारी में पूरी तरह लिप्त हो जाता है । अंततः काल यवन जरा (बुढ़ापा) राक्षसी तथा ज्वर उसके साम्राज्य पर आक्रमण करते हैं, और वह अपनी पत्नी का ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग देता है । अगले जन्म में वह एक राजकुमारी के रूप में उत्पन्न होता है और जब उसका पति मरता है तब वह रोती है और अपना धीरज खो देती है । तब मित्र अज्ञात उसके सामने प्रकट होता है ओर उसके सही स्वरूप का परिचय कराता है, जो स्वयं अज्ञात का ही प्रतिरूप था ।

३९. यह भगवान की माया शक्ति के द्वारा होता है, जिसने इस जगत की रचना की है । प्रत्येक आत्मा का यद्यपि परम सत्ता से तादात्म्य है तथापि शरीर के साथ अपनी मिथ्या पहचान के कारण यह (आत्मा) अपने इस स्वरूप से परिचित नहीं है । शून्य (जीरो) वॉट का बल्ब अत्यंत दयनीय इसलिए है कि १०० वॉट और १००० वॉट के बल्ब अत्यंत प्रकाशमय और बड़े लोकप्रिय होते हैं । यह मृत्यु से भी भयभीत रहता है । यह कातरता या भीति (भय) इसलिए उत्पन्न होती है, क्योंकि शून्य वॉट का बल्ब इस तथ्य से बिलकुल अनभिज्ञ रहता है कि १०० वॉट एवं १००० वॉट बल्ब को भी प्रकाशित करने वाली वही विद्युत शक्ति है जो स्वयं इसे भी प्रकाशित करती है । यह ज्ञात हो जाने पर किसी प्रकार के शिकवे-शिकायत की या कातरता की गुंजाइश नहीं रह जाती । यह कातरता, दुःख, मृत्यु आदि सिर्फ बल्ब के संदर्भ में अर्थ रखते हैं - विद्युत तो इससे पूर्णतः अप्रभावित रहता है । इस यथार्थ को बल्ब कैसे जाने ? प्रत्येक व्यक्ति में एक नैसर्गिक थर्मोस्टेट (तापमान को स्वयं नियंत्रित करने वाला यंत्र) होता है जो स्वतः ही यह जानने की प्यास उत्पन्न करता है कि ''वास्तव में मैं कौन हूँ'' या एक गुरु को आकर्षित करता है जो आत्मा को 'अपने हाथों में' लेकर उसे दीक्षित (शिक्षित) करता है ।

४०. बारह में से चार स्कंधों की चर्चा पूर्ण करते हुए हमने अब तक अपनी आध्यात्मिक यात्रा की एक तिहाई दूरी तय कर ली है । व्यावहारिक सुझावों और अर्थपूर्ण संदेशों के उसमें कई अमूल्य रत्न हैं जिसे इस ज्ञान सागर ने हमें प्रदान किया है ताकि हम अपने आध्यात्मिक अभियान का आरंभ कर सकें । आगे बढ़ने से पूर्व हम थोड़ी देर के लिए

रुकें, अब तक के अपने विचारों का स्मरण करें और जो महत् संदेश अब तक हमने देखे हैं, उन्हें एक जगह संग्रहीत कर लें ।

१. साधक चाहे जितना भी मूढ़ या अनुभवहीन हो, चाहे वह गुरु की आवश्यकता से बिलकुल अनभिज्ञ रहे, **यदि उसमें अपने लक्ष्य प्राप्ति की तीव्र, गहरी और प्रबल आकांक्षा एवं ललक बहुत अधिक लालसा करना हो तो कोई समर्थ गुरु स्वयं ही, बिना किसी आमंत्रण के, उसके दरवाजे पर आकर दस्तक देने लगेगा ।** इस प्रकार के दो उल्लेखनीय उदाहरण हैं : परीक्षित-शुकदेव और बालक ध्रुव-संत नारद । गुरु हमेशा ही हृदय में होता है और साधक की आवश्यकता, साधना और आकांक्षा के अनुसार वह अपने आपको बाह्य रूप में प्रकट करता है ।

२. आंतरिक समरसता और शांति के अभिलाषी साधक के लिए बाह्य समरसता भी अनिवार्य है । घृणा और विद्वेष के स्थान पर **क्षमा और प्रेम की प्रतिष्ठा करनी होगी ।** आध्यात्मिक उन्नति के लिए **अहंकार राहित्य (विनम्रता) अपरिहार्य** है ।

३. शांतिपूर्वक बैठकर उन घटनाओं के लिए **अविचल मन से ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना,** जिसमें भगवान ने हमें बरबादी और संकटों से बचा लिया, भगवान के ध्यान का एक आसान तरीका है, जिसमें मन अन्य विषयों में नहीं भटकेगा । कुंतीदेवी और गोपियाँ इसकी सर्वोत्तम उदाहरण हैं ।

४. सच्ची अनासक्ति और पूर्ण वैराग्य - ईश्वर अनुभूति के निमित्त अपने सगे-संबंधियों एवं अपने धन-दौलत के प्रति मोहजन्य आसक्ति से सर्वथा मुक्ति अनिवार्य है, लेकिन यह स्थिति सिर्फ भगवत् कृपा से ही संभव है । भगवान की कृपा से सभी विघ्नों को पार करने में हमारी सहायता के लिए **उनकी बार-बार प्रार्थना ही एकमात्र साधन** है । इस प्रकार **प्रार्थना साधक के पास एक शक्तिशाली दिव्य शस्त्र** है ।

५. कुविचारों को उत्तेजना देनेवाली पुस्तकें पढ़ने से बचना चाहिए । साधक को मात्र ऐसी पुस्तकें ही पढ़नी चाहिए जो **भगवान के नाम एवं उनकी महिमा का गुणगान करती** हैं और सिर्फ ऐसी ही चीजें सुननी भी चाहिए ।

६. कोई भी यज्ञ, पुण्यकार्य, धर्मग्रंथों का अध्ययन, वैदिक अनुष्ठान आदि हमें भगवान के पास उतनी सुगमता से नहीं पहुँचा सकता, जितनी सुगमता से **सत्संग तथा संतों और भक्तों की सेवा ।**

७. **परम सत्ता या भगवान का सतत स्मरण** ही सभी साधनाओं का मर्म है, क्योंकि वही सभी प्राणियों में आत्म-तत्त्व के रूप में अंतर्भूत हैं । भगवान की महिमा का वर्णन करने और उनके नाम का जप करने से ही हम अभय एवं आनंद की पराकाष्ठा स्थिति पर पहुँच सकते हैं । यह **'सर्वात्मभाव'** अर्थात् सभी प्राणियों एवं सभी वस्तुओं में भगवान के दर्शन से ही हम अपनी समस्त वासनाओं से मुक्ति पा सकते हैं । शुकदेव और ध्रुव इस 'सर्वात्मभाव' की परम स्थिति के आदर्श हैं ।

८. ज्ञान मार्ग में साधक के लिए मन का निरोध, इंद्रयों का निरोध, वैराग्य, विवेक आदि अनेक शर्तों की अपेक्षा होती है, जबकि भक्ति मार्ग के साधक के लिए जो एकमात्र वस्तु अपेक्षित है वह है **भगवान के दर्शन पाने की लालसा और उत्कंठा** के साथ अपने मन में **भगवान के श्री चरणों को दृढ़ता के साथ पकड़कर रखने की क्षमता** ताकि शेष विचारों के लिए उसमें कोई स्थान बचे ही नहीं ।

९. लोक व्यवहार में जब हमसे कोई भी प्रश्न पूछा जाए, भले ही वह तुच्छ बात ही हो, तो उसका **उत्तर देने के पूर्व हमें भगवान का स्मरण करना चाहिए और उनका नाम लेना चाहिए ।** जब सारा पढ़ना-लिखना और सारा बोलना-सुनना सिर्फ भगवान पर तथा उनके नाम और उनकी महिमा पर केंद्रित हो जाए तो दुनिया की कोई भी शक्ति मन को उसके लक्ष्य से च्युत नहीं कर सकती ।

१०. **मन ही बंधन और मुक्ति दोनों का कारण है ।** यदि मन को सांसारिक चीजों की ओर मोड़ दिया जाता है तो वह बंधन उत्पन्न करता है और यदि भगवान की ओर मोड़ा जाता है तो वह मुक्ति प्रदान करता है ।

११. सत्संग अर्थात् साधु **महात्माओं का संग और उनकी सेवा मुक्ति का प्रत्यक्ष प्रवेश-द्वार है ।** इस प्रकार सत्संग के प्रति आसक्ति अंततः अनासक्ति प्रदान करती है ।

१२. संपूर्ण तितिक्षा से युक्त परम शांत, सभी प्राणियों के प्रति मित्र भाव रखने वाला, परम दयालु, भगवान के प्रति समर्पित, जिसने भगवान के लिए अपना परिवार, अपने सगे-संबंधी, अपनी संपत्ति सब कुछ तज दिया हो, जो भगवान को पाने के लिए किसी भी सीमा तक कष्ट उठाने को तैयार हो और जो अपना सारा समय भगवान के

नामोच्चार और उनकी महिमा-श्रवण एवं कीर्तन में बिताता हो; यदि ऐसा व्यक्ति मिले तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह **सात्विक व्यक्ति** एक उच्चकोटि के महात्मा है जिसके संग में रहने का प्रयत्न हमेशा करना चाहिए ।

१३. शरीर का अस्तित्व, इसके कार्यकलाप, इसका विकास, इसका नाश, इसकी मृत्यु आदि सभी भगवान की इच्छा द्वारा पूर्वनिश्चित और पूर्वनिर्धारित हैं और इसलिए साधक को अपने शरीर की चिंता बिलकुल ही नहीं करनी चाहिए ।

अध्याय - V

स्थिति स्कंध

४१. इस स्कंध में दो मुख्य कथाएँ हैं, एक ऋषभदेव की जो उच्चकोटि के आदर्श अवधूत बने । **अवधूत एक ऐसी अवस्था है जिसमें मनुष्य (ब्रह्म) परम सत्ता की स्थिति में होता है ।** दूसरी कथा ऋषभदेव के पुत्र भरतकी है जो आध्यात्मिक साधना हेतु वन में गए लेकिन एक हिरन के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण आध्यात्मिक सोपान से नीचे गिर गए । अतः अपनी सांसारिक वासना के निवारण के लिए और सर्वोच्च अवस्था में पहुँचने के लिए उन्हें दो और जन्म ग्रहण करना पडा । ये दोनों कहानियाँ यह निदर्शित करती है कि **विकसित आत्माएँ किस प्रकार शुद्ध चेतना की तुरीय अवस्था में प्रतिष्ठित होती हैं ।** इन कथाओं के आरंभ में ही यह बात रेखांकित की गई है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति अपनी गृहस्थी छोड़ दे और जंगल में चला जाए । यह कहा गया है कि "व्यक्ति छह शत्रुओं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर (ईर्ष्या) के साथ रहते हुए भले ही वन में चला जाए, वह भय से मुक्त नहीं हो सकता और मन की शांति की आशा नहीं रख सकता ।"

जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य ।
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥ (V-1-17)

सिद्ध पुरुषों को भी पूर्व जन्म के कर्मों के कारण (प्रारब्ध वश) अच्छे या बुरे फलों का भोग करते हुए निरभिमान होकर अपने शरीर की रक्षा तो करनी ही पड़ती है । **यदि कोई गृहस्थ जीवन में रहने के बावजूद अपनी इंद्रियों पर संयम रखते हुए आत्मचिंतन में निरत रहे तब भी उसकी आध्यात्मिक प्रगति में कोई रुकावट या अड़चन नहीं आती ।**

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम् ।
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः । (योग वासिष्ठ)

यही विचार योग वासिष्ठ में इस प्रकार आया है - "जिसने संसार की आसक्तियों पर विजय प्राप्त नहीं की है, वह वन में भी जाकर दोषों के वशीभूत हो जाएगा । दूसरी ओर जिसने अपनी पाँचों इंद्रियों पर नियंत्रण पा लिया है वह गृहस्थी में रहते हुए भी तप कर रहा है ।"

४२. वन में रहने के बावजूद राजा भरत एक असहाय मृगशावक को दया के बहाने अपने आश्रम में ले आए और उस पशु के प्रति उन्होंने ऐसी आसक्ति बढ़ा ली कि

अपनी आध्यात्मिक साधना और भगवान की भक्ति बिलकुल भूल गए । इस गहरी आसक्ति के कारण वे अगले जन्म में हिरन के रूप में उत्पन्न हुए । (कैसा पतन!) इसके विपरीत सप्तम स्कंध में असुर राज हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद की कथा में अत्यंत प्रतिकूल घरेलू परिवेश था, जिसमें भगवान का नाम लेना ही एक अक्षम्य अपराध था । लेकिन विषपान कराए जाने, पिता के सेवकों द्वारा धारदार अस्त्र चुभाए जाने, पर्वत-शीर्ष से धकेल दिए जाने, आग में झुलसाए जाने आदि जैसे ढेरों कष्टों की उसने कोई परवाह नहीं की । प्रह्लाद भगवन्नाम का उच्चारण मुक्त कंठ से करते रहे और अपने पिता की अवज्ञा कर दी । अंततः भगवान को नरसिंह अवतार ग्रहण करना पड़ा और वे प्रह्लाद के सामने प्रकट हुए । परिवेश प्रारब्ध के द्वारा निर्धारित होता है, अतः इस बात की परवाह किए बिना कि परिवेश अनुकूल है या नहीं, अनवरत रूप से अपनी साधना जारी रखनी चाहिए । **आध्यात्मिक साधना स्वयं पर निर्भर है, न कि परिवेश पर ।** यदि व्यक्ति अपनी साधना में प्रगति करता चले तो स्वतः ऐसा दिन आएगा जब परिवेश भी अनुकूल हो जाएगा । **''सर्वाः सुखमया दिशः ।''** (सभी दिशाएँ - अर्थात् संपूर्ण वातावरण - शांतिपूर्ण एवं आनंदमयी बन जाएँगी ।)

४३. अहंकार के निवारण और आत्मतत्व की उपलब्धि के निमित्त ऋषभ देव अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए साधना के अंग के रूप में निम्नलिखित अभ्यासों एवं प्रक्रियाओं का प्रतिपादन करते हैं (V-5-10 से 13) ।

१. गुरु के निर्देशों का पालन तथा गुरु एवं भगवान के प्रति भक्ति ।

२. जीवन में सभी द्वंद्वों को युग्म - यथा प्रसन्नता और आपदा, उष्ण और शीत, समृद्धि और दरिद्रता आदि - समभाव से स्वीकारना ।

३. यह अहसास कि सभी सांसारिक वस्तुओं का एकमात्र परिणाम दुःख ही है ।

४. अनवरत रूप से अपने से यह प्रश्न पूछते रहना कि ''मैं कौन हूं ?'' और इस पर चिंतन करना ।

५. लोभ का त्याग करना ओर अनासक्ति विकसित करना ।

६. मन की सभी इच्छाओं को समाप्त करना ।

७. भगवान की पूजा करना; भगवान के नाम, उनकी महिमा एवं उनकी कथाओं का श्रवण करना; सत्संग अर्थात् संत महात्माओं का संग एवं उनकी तथा भगवान के भक्तों की सेवा करना ।

८. शत्रुता एवं घृणा का त्याग करना, समभाव या सम दृष्टि से सभी चीजों को देखने का अभ्यास करना; शरीर, सगे-संबंधियों, घर-गृहस्थी, सम्पत्ति आदि के साथ लगाव को समाप्त करना ।

९. एकांत में योग-साधना का अभ्यास करना, प्राण, इन्द्रियों एवं मन पर नियंत्रण स्थापित करना ।

१०. सत् (परमात्मा) के प्रति परिपूर्ण विश्वास विकसित करना; ब्रह्मचर्य में स्थिति, सर्वदा सतर्क एवं सजग रहना; अपनी वाणी पर नियंत्रण रखना ।

११. सभी आध्यात्मिक साधनाओं को धैर्य, दृढ़ता एवं उत्साह के साथ करना ।

१२. जगत् की सभी वस्तुओं में भगवान के दर्शन करना; धार्मिक ग्रंथों के ज्ञान को अर्जित करना और वास्तविक अनुभव द्वारा उन्हें प्रमाणित करना ।

आवश्यक नहीं कि ऊपर के सभी निर्देशों का व्यक्ति एक ही साथ पालन करें । **इनमें से यदि कोई एक भी महत्वपूर्ण निर्देश को अपना ले तो शेष का पालन भी स्वतः ही होने लगता है ।** अतः इतनी भारी-भरकम सूची देखकर चौंकने की या हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं ।

४४. ऋषभ एक अवधूत बने और सब से पहले जैन तीर्थंकर माने गए । उनकी स्थिति का वर्णन अत्यंत प्रभावशाली है । जब उन्होंने अपने राज्य का परित्याग किया और भिन्न-भिन्न वनों एवं राज्यों में घूमने लगे तब उन्होंने अपने साथ सिर्फ एक सामान रखा और वह था उनका शरीर । बात करने पर भी वे कभी कोई उत्तर नहीं देते और भिन्न-भिन्न समयों पर वे अलग-अलग तरह से व्यवहार करते मानो वे कभी बुद्धू, कभी बहरे, गूंगे या अंधे, भूत-प्रेत से अभिभूत या पगले हों । जब लोग उन्हें धमकी देते, उन्हें पीटते, उन पर पत्थर फेंकते, उन पर थूकते, उन पर गंदी चीजें फेंकते या हर प्रकार से उन्हें गंदा करते तब भी वे पूर्णतः अविचलित रहते । वे पूर्ण रूप से उपाधि रहित आत्मा में स्थित हो गए थे । परम सत्ता की स्थिति में सिर्फ आत्म-तत्व ही रह जाता है, अतः वे अपने आपको ही उत्पीडक (सताने वाले) एवं उत्पीडित (सताये जाने वाले) दोनों के रूप में अनुभव कर सकते थे । उन्होंने अपना सम्पूर्ण अहंकार अर्थात् 'मैं' तथा 'मेरापन' का भाव त्याग दिया था । वे आत्मतत्व की गरिमा में अवस्थित थे । यह एक **पूर्ण सिद्ध अवधूत या अत्याश्रमी का वर्णन** है । जब कोई इस

अवस्था में पहुंच जाता है तो यह समझ जाना चाहिए कि उसने परम सत्ता की अनुभूति प्राप्त कर ली है ।

४५. राजा ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत योग्य पिता के योग्य पुत्र थे । भरत की कथा के एक अंश का हमने पहले ही परिचय पा लिया है - एक असहाय शावक के प्रति दया के रूप में शुरू होने वाला व्यवहार आसक्ति और मोह में पर्यवसित हुआ । गृहस्थी का परित्याग और एकांत की खोज में वन-गमन भी उनका उद्धार नहीं कर सका क्योंकि सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति का परित्याग वे नहीं कर सके, चाहे इसके लिए बहाना जो भी हो । फिर भी हिरण के रूप में भरत के परवर्ती अगले जनम में भी भगवत्कृपा से पूर्व जन्म की पूर्ण स्मृति विद्यमान रही । परिणामस्वरूप वे सजग बने रहे, अपनी हिरण-माँ को छोड़ दिया, एक एकांत आश्रम की तलाश की, सभी संगों का परित्याग किया तथा अतीत की चूक पर पश्चात्ताप करते हुए सूखे पत्तों एवं घास पर उन्होंने अपना जीवनयापन किया । ब्राह्मण पुत्र के रूप में अगले जन्म में भी उनकी पूर्वजन्म की पूर्ण स्मृति कायम रही और वे एक मंदबुद्धि बालक के रूप में व्यवहार किया मानो वे पगले, अंधे या बहरे हों और कुछ भी सीखने में उनकी कोई रुचि नहीं है । यहां तक कि डकैतों के एक दल द्वारा बलि दिए जाने के लिए काली माँ की प्रतिमा के समक्ष ले जाए जाने पर भी वे अविचलित बने रहे । जब भगवती माता ने अपने को प्रकट किया, डाकुओं का संहार किया और उस बालक की रक्षा की, तब भी वह अप्रभावित बना रहा । **यह भगवान के प्रति पूर्णतः समर्पित एवं पूर्ण सिद्ध परमहंस की अभय की परम अवस्था** है । अपने शरीर के प्रति समस्त आसक्तियों से मुक्त होकर किसी के प्रति उनमें कोई शत्रु भाव नहीं रह जाता, सभी प्राणियों के प्रति उनमें मित्र-भाव उत्पन्न हो जाता है क्योंकि वे सब में अपना ही (या भगवान का) रूप देखते हैं (V-9-20) ।

अंततः भरत रहूगण (पूर्व के पैरा १५ में जिनकी चर्चा हो चुकी है) को उपदेश देने के क्रम में अपना मुंह खोलते हैं । भरत साधना का सार इन शब्दों में भली-भांति प्रस्तुत करते हैं :-

''गुरु एवं भगवान के श्री चरणों की पूजा रूपी अस्त्र के द्वारा ज्ञान का उदय कर माया पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । सभी आसक्तियों से मुक्त होकर और षड्रिपुओं (काम, क्रोध,लोभ आदि) पर विजय प्राप्त कर मनुष्य आत्मतत्व के यथार्थ का साक्षात्कार कर सकता है ।'' (V-11-15 और 17) ।

पुष्टि स्कंध

४६. इस अध्याय में आध्यात्मिक जीवन का अज्ञात किन्तु सर्वाधिक आवश्यक तत्व - **भगवान के अनुग्रह** - का वर्णन हुआ है । पॉल ब्रंटन ने इसे "X" एक्स फेक्टर कहा है क्योंकि यह अज्ञात हे और कल्पनातीत है । यह स्कंध **'नाम-स्मरणम्'** अर्थात् भगवान के किसी भी नाम का स्मरण या उच्चारण को ही - चाहे वह गहरे विश्वास और समर्पण के साथ अंतःकरण से निकले या अनायास ही निकल जाए - एक मुख्य तथा सरल साधना के रूप में प्रस्तुत करता है क्योंकि हृदय से की गई प्रार्थना भगवत्कृपा प्राप्त करने का एक निश्चित साधन है ।

४७. अजामिल एक पतित और नीच ब्राह्मण था, एक ऐसा पापी जिसने अपने माता-पिता एवं परिवार को तिरस्कृत कर दिया था और एक वेश्या के साथ पापरत होकर संतान उत्पन्न कर रहा था । उनमें से सबसे छोटे का नाम उसने नारायण रखा । भाग्य के संयोग से उसने अपनी ओर आते हुए दो यमदूतों को देखा जो उसके प्राणों को लेने आए थे; अचानक ही उस घबराहट और मृत्यु भय के कारण उसने आसक्ति के उन्माद में थोड़ी दूर पर खेल रहे अपने छोटे पुत्र नारायण को एक बार पुकारा । अनायास ही उसके समक्ष भगवान नारायण के चार दूत प्रकट हो गए । यमदूतों से तर्क करके उन्होंने यह समझा दिया कि ऐसे व्यक्ति की जान लेना धर्म-विरुद्ध है जो भगवान नारायण का नाम ले चुका है ।

इस प्रकार उन्होंने न केवल मृत्यु से अजामिल की रक्षा की बल्कि भगवान के नामोच्चार की महिमा का भी उपदेश किया । भगवान के नामोच्चार की महिमा सचमुच ही अत्यंत विस्मित करने वाली है, भले ही वह एक ही बार और किसी बहाने से ही क्यों न हो ।

४८. अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि । (VI-2-7)
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् । (VI-2-8)
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे । (VI-2-10)
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ॥ (VI-2-10)

ऐसा अधम पापी भी, जिसने अबला की और गाय की हत्या की हो, जो राजहंता या पितृहंता हो या जो मद्यपान में एवं चौरकर्म में निरत हो, वह भी भगवान का नाम सिर्फ एक

बार उच्चरित कर अपने सभी पापों से मुक्त होकर पवित्र बन जाता है । भगवान के नाम का ऐसा प्रबल प्रभाव है कि उनका नाम एक बार उच्चरित करने से करोड़ों जन्मों में किए गए पाप कोई एक बार अनजाने में भी भगवान का नाम ले तो - चाहे सोते हुए, या गिरते हुए या किसी बिच्छू-सांप के द्वारा काटे जाने पर, या दूसरों से मजाक करने के लिए हो-सभी पाप धुल जाते हैं ।

४९. ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥ (VI-3-28)

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति नच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥ (VI-3-29)

मृत्यु के नियंत्रक यमराज जब अपने दूतों को निर्देश देते हैं तो भगवान के भक्तों की महिमा का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

''ऐसे भक्त जिन्होंने स्वयं को भगवान को समर्पित कर दिया हैं, जो सम दृष्टि रखते हैं उनकी महिमा का गान देव-गण करते रहते हैं । वे सर्वदा गदाधारी भगवान के संरक्षण तथा छत्रछाया में रहते हैं । ऐसे भक्तों के पास जाने का दुस्साहस कभी मत करना क्योंकि उन पर मेरा कोई नियंत्रण नहीं है और वे हमारी पहुंच से परे हैं (VI-3-27) । इसके विपरीत वैसे दुष्टों को मेरे सामने लाओ जिसकी जिह्वा ने भगवान की महिमा का एक बार भी उच्चारण नहीं किया है या जिसके हृदय ने भगवान के श्री चरणों का कभी स्मरण नहीं किया है या भगवान के सामने जिसका सिर एक बार भी झुका नहीं है (VI-3-29) ।

५०. हा गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ।
ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नापकर्षति ॥

कहा जाता है कि दुर्योधन और दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीर-हरण किए जाने पर सार्वजनिक रूप से अपमानित किए जाने पर कातर भाव से अपनानाम पुकारे जाने के कारण

भगवान कृष्ण द्रौपदी के ऋणी हो गए और वे उऋण नहीं हो पाए । कृष्ण स्वगत कथन किया करते थे : ''मैं उस समय काफी दूर द्वारिका में स्थित था इसलिए मुझे गोविन्द कहकर द्रौपदी को बहुत जोर से पुकारना पड़ा । मुझे भारी ऋण में डाल दिया जो दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है और उसे भूल पाने में मैं असमर्थ हूँ ।

५१. षष्ठ स्कंध में दूसरा महत्वपूर्ण उपाख्यान वृत्रासुर की कथा है । अपराजेय शक्ति वाला असुर वृत्र जब देवताओं के राजा इन्द्र से युद्ध कर रहा था तो युद्ध भूमि में ही भगवान की मुखर प्रार्थना करने के लिए उसने समय निकाल लिया । उसकी प्रार्थना के अंतिम छः श्लोकों की प्रशंसा करते हुए बल्लभाचार्य (भगवान के प्रसिद्ध भक्त और पुष्टि मार्ग के संस्थापक) ने उसे **'भागवत का सार'** कहा है ।

वृत्र प्रार्थना करता है : ''हे भगवन् जब किसी व्यक्ति को भौतिक प्रगति में बाधाएं आती हैं और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के संदर्भ में वह हताश होता है, तो यह इस बात का संकेत है कि आध्यात्मिक पथ की ओर अग्रसर करने वाली आपकी कृपा कार्य करने लगी है । क्योंकि हे भगवान, **आप सिर्फ दीनों को - जिनके पास कुछ भी नहीं होता और जो अपने को कुछ भी नहीं समझते - ही प्राप्त होते हैं,** किसी अन्य को नहीं ।''

''हे भगवन् ! भावी जन्मों में हमें भगवान के श्री चरणों के सेवकों के सेवक बनाने की कृपा करें और अपने **मन, वचन और कर्म से हम सिर्फ आपकी भक्ति करें ।''**

''हे भगवन् ! मैं स्वर्ग, पृथ्वी या पाताल (जो अपनी वर्णनातीत समृद्धि के लिए ख्यात है) का सम्राट बनकर उन पर शासन करना नहीं चाहता । न तो मुझे कोई सिद्धियां चाहिए और न ही मुक्ति चाहिए । मैं कुछ नहीं चाहता, कुछ भी नहीं चाहता; **सिर्फ आपको चाहता हूं ।''**

''भगवन्, आपके प्रति अपनी उत्कट लालसा का वर्णन मैं कैसे करूं । चिड़िया के उस भूखे बच्चे की तरह जो अपनी माँ के आगमन की प्रतीक्षा कर रही होती है, उस भूखे बछड़े की तरह जो अपनी गो माता के लिए प्रतीक्षारत है ओर उस पत्नी की तरह जो यात्रा से लौटने वाले अपने पति की प्रतीक्षा कर रही है; मेरा मन **आपके दर्शन के लिए लालायित** है ।''

''भगवन् , यदि आप मुझे इस योग्य नहीं समझते कि अगले जन्म में मुझे अपने दासोंके दास बना सकें तो कम-से-कम इतनी कृपा करें कि मुझे साधु महात्माओं की संगति प्रदान करें; यदि आप मुझे इस वर के भी योग्य नहीं मानते तो कम-से-कम एक नकारात्मक

वर ही दे दें कि मैं वेसे लोगों के बीच उत्पन्न न होऊं जो अपने शरीर, अपने पुत्र, अपनी पत्नी, अपनी गृहस्थी एवं अन्य सम्पत्ति की माया में ही लिप्त हैं । कृपया ऐसे दुष्टों का भी संग न दें जो कभी भगवान के स्मरण नहीं करते और जो अपने दृष्टिकोण में पूर्णतः भौतिकवादी हैं ।'' (VI-11-23 से 27) । **साधना के प्रारंभिक चरण में पूर्णतः सांसारिक व्यक्तियों का संग अत्यंत हानिकारक** है और हर कीमत पर इसकी उपेक्षा की जानी चाहिए ।

५२. भवानतार्षीन्मायां वै वैष्णवीं जनमोहिनीम्
यद् विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः ॥ (VI-12-20)

जब वृत्र को इस प्रकार सस्वर प्रार्थना करते हुए इन्द्र ने देखा तो वे भी अपनी आंखों पर विश्वास नहीं कर सकें । वे मुक्तकंठ उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं - ''कैसी अद्भुत बात है कि अपनी अनिष्टकारी जंजीरों को तोड़ पाने में तुम सफल हो गए । तुम्हारी दैत्य-वृत्ति तुमसे छूट गयी और तुम महापुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो गए हो ।''

५३. जगत् में ऐसा कोई भी नहीं है जो भगवान की कृपा परिधि से बाहर है । चाहे कोई पहले दर्जे का (अधम) पापी (अजामिल) हो या दैत्य (वृत्र) हो भगवत्कृपा का थर्मोस्टेट (thermostat) एक-न-एक दिन उसके अन्दर कार्यरत होने लगेगा और यथासमय किसी-न-किसी आध्यात्मिक पथ से सबको भगवान के पास ले जायेगा । **भगवान अनंत हैं और उन तक जाने वाले पथ भी अनगिनत हैं;** लेकिन जिन पुण्यात्माओं ने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है वे बलपूर्वक अपने पथ को ही भगवान तक पहुँचने वाला एकमात्र सीधा और सुगम पथ घोषित करते हैं (रामकृष्ण परमहंस जैसे कुछ उल्लेखनीय अपवाद है) इसका प्रयोजन मात्र यह है कि उनके अनुयायियों एवं भक्तों के मन में दृढ़ और अविचल विश्वास उत्पन्न हो । एक ही तरह की बीमारी से पीड़ित अलग-अलग रोगियों के लिए डाक्टर अलग-अलग दवाओं के निर्देश देता है । ऐसा वह रोगियों की व्यक्तिगत शारीरिक भिन्नताओं तथा विशेषताओं के कारण करता हैं । यही बात आध्यात्मिक पथ पर भी लागू होती है । व्यक्ति के 'अध्यात्मिक गठन' और संस्कारों के अनुरूप उसके लिए सर्वोत्तम पथ का निर्धारण स्वयं परमात्मा की इच्छा से ही होता है । **इस 'अध्यात्मिक गठन' का निर्धारण व्यक्ति की तैयारी, योग्यता, ललक, लक्ष्य प्राप्ति की तीव्रता आदि अर्थात् अन्तर्निहित क्षमता और वासना के आधार पर होता है ।**

वासना स्कंध

५४. इस अध्याय के आरम्भ में ही राजा परीक्षित द्वारा पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में शुकदेव कहते हैं कि अपनी कृपा के वितरण में **भगवान् कभी भी पक्षपात नहीं करते । भगवान की कृपा तो स्वयं आत्मतत्व की ही कृपा है ।** ऐसा नहीं है कि भगवान् सर्वदा देवों के पक्ष में रहते हैं और असुरों को पराजित करने या उनका संहार करने में सहायता पहुंचाते हैं । उनकी कृपा का आलोक उसी प्रकार सभी पर पड़ता है जिस प्रकार चन्द्रमा की चन्द्रिका सम्पूर्ण जलराशि पर पड़ती है - जल चाहे गंदा हो या स्वच्छ हो, चाहे वह घड़ों में हो या सरोवर में हो; लेकिन विभिन्न शरीरों के सद्-असद् कर्मों के प्रकटीकरण भिन्न-भिन्न प्राणियों पर भिन्न-भिन्न होता है । **गहरे अर्थों में सभी देवता और दानव हम में ही रहते हैं । अलग-अलग अनुपातों में कुछ प्राणी दैवी वृत्ति का विकास करते हैं और कुछ आसुरी वृत्ति का ।** इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का परस्पर संघर्ष चलता रहता है, जिसे लाक्षणिक भाषा में **'देवासुर संग्राम'** कहते हैं । इन्हीं वृत्तियों की मात्रा के कारण भगवान् की कृपा का प्रत्यक्षीकरण और इसका प्रभाव अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग अलग होता है । **''तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ।''** अपनी तरफ से पूर्णरूप से हमें अपना मन भगवान में स्थित रखना चाहिए **चाहे वह प्रेम द्वारा हो या मैत्री द्वारा, भक्ति हो या घृणा अथवा शत्रुता** द्वारा । भगवान से किसी तरह से (चाहे वह द्वेष का हो) स्थायी संबंध बनाने केलिए मनुष्य को अपना सर्वोत्तम प्रयत्न करना चाहिए (VII-5-30 और 31) ।

५५. सप्तम स्कंध की मुख्य कथा प्रह्लाद और उसके पिता हिरण्यकशिपु से संबंधित है । इस में **प्रह्लाद सभी सद् वासनाओं से युक्त आदर्श भक्त का प्रतिमान** है और असद् वासनाओं से युक्त **हिरण्यकशिपु अहंकार (असद् वासना) का निकृष्ट उदाहरण** है । अनेक साधक बीस या तीस वर्षों तक (प्रायः आधे–अधूरे मन से) विभिन्न प्रकार की साधनाएं करते हैं और अपनी आध्यात्मिक प्रगति पर्याप्त न हो पाने का रोना रोने लगते हें यह मानो वैसा ही है जैसे किसी नई-नवेली दुल्हन को पुत्र प्राप्ति के लिए एकव्रत-प्रतिदिन पीपल वृक्ष की एक सौ एक परिक्रमा करने का सुझाव दियागया हो लेकिन जो सिर्फ

एक या दो प्रदक्षिण करके यह जांचने का प्रयास करे कि उसे गर्भ ठहरा है या नहीं । अपने अनगिनत जन्मों में भगवान को भुलाकर हम सांसारिक जीवन की रंगरलियों में मस्त रहे हैं ओर हम सिर्फ एक जन्म की मात्र बीस या तीस वर्षों की साधना के परिणामस्वरूप किसी चमत्कारी परिणाम की आशा करते हैं । हमें यह देखना चाहिए कि हम प्रह्लाद जैसे बालक की तुलना में कहाँ ठहरते हैं, जिसकी आध्यात्मिक चेतना की वेदव्यास द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है ।

५६. व्यास जो कहते हैं ''यद्यपि प्रह्लाद लगभग पांच वर्ष का बालक है, सामान्यतया बच्चों द्वारा खेले जाने वाले खेल-खिलौनों या खेल-कूद में उसकी कोई रुचि नहीं थी । किसी भी सांसारिक वस्तु के प्रति उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं थी, चाहे वह वस्तु कितनी भी आकर्षक हो; प्रत्यक्षतः वह जड़वत् (संज्ञाहीन) बना रहा, लेकिन बैठते-उठते, घूमते-टहलते, बोलते-बतियाते, खाते-पीते या सोते हुए भी इन गतिविधियों से या अपने शरीर से बेखबर रहते हुए **उसका मन सिर्फ भगवान् की भावना से ओत-प्रेत रहता है ।** भगवान के दर्शन के बिना जब वह निराश हो जाता, कुछ समय के लिए रोने लगता फिर कभी भगवान के सामीप्य और उनके प्रेम की बात सोचकर बिना किसी लाज-शर्म के भगवान् का नाम उच्च स्वर में गाते हुए वह हंसने और नाचने लगता । कभी वह स्वयं में ही भगवान् की भावना कर लेता (अर्थात् स्वयं भगवान बन जाता) और भगवान की लीलाएं करने लगता । कभी यह कल्पना करता कि भगवान् ने उन्हें गोद में ले लिया है वह निस्तब्ध बैठा रहता, उसके पूरे शरीर में रोमांच हो जाता तथा उसकी बंद आंखों से आनंद-अश्रु बहने लगते । बाह्य संसार से अपने संबंधों के मामले में उसका व्यवहार सर्वथा निर्दोष बना रहता । **वह सदा सत्य बोलता, अपनी इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रखता, सभी प्राणियों को आत्मवत् मानता, सभी लोगों के प्रति समभाव से मैत्री रखता, बडों को अत्यंत विनम्रतापूर्वक प्रणाम करता, अपने कनिष्ठों एवं दीनों के प्रति पितृवत् करुणा रखता, उनके साथ भ्रातृवत् समानता का व्यावहार करता, अपने गुरुजनों के प्रति इतनी श्रद्धा रखता मानों वे साक्षात् भगवान् हो, और ज्ञान, समृद्धि तथा चमत्कारी व्यक्तित्व होते हुए एवं भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण भाव के बावजूद उसमें किंचित् मात्र भी अहंकार या गर्व का संस्पर्श नहीं था ।**

५७. जब हिरण्यकशिपु फुसलाकर उससे पूछता है कि उसने अपने गुरु से क्या-क्या सीखा है, प्रह्लाद भगवान के प्रति निम्नलिखित नवधा भक्ति का उल्लेख करता है :

''भगवान् की महिमा एवं कथा का श्रवण कीर्तन, भगवान् का स्मरण, भगवान् के चरणों की सेवा, उनकी अर्चना, उनकी वंदना, दास की तरह भगवान की सेवा, भगवान् के प्रति सख्य (सखा का भाव) और भगवान् के प्रति शरणागति ।

५८. तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् ।
आसुरं भावमुन्मुच्य यथा तुष्यत्यधोक्षजः ॥ (VII-6-24)

किसी भी प्राणी के विषय में - चाहे वह मनुष्य हो या पशु-पक्षी या कीट-पतंग - **हिंसा का भाव न लाना अर्थात् अहिंसा में पूर्ण प्रतिष्ठित होना** आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने की प्रारंभिक शर्त है । प्रह्लाद अपने सहपाठियों एवं साथियों को प्रेरित करते हुए कहता है - **''हिंसा की दानवी प्रवृत्ति छोड़कर समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री एवं करुणा का भाव जागृत करो क्योंकि इसी वृत्ति से भगवान प्रसन्न होंगे ।''**

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥ (VII-7-55)

किसी पुरुष का सर्वोच्च लक्ष्य है सर्वत्र और सबमें भगवान के दर्शन की वृत्ति परिलक्षित होना और भगवान की प्रति अनन्य भक्ति । कोई व्यक्ति सिर्फ निष्कामता से भी परम आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है । **''कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ।** (VII-10-7) । प्रह्लाद भगवान् से सिर्फ एक वर की आकांक्षा करते हैं : **''मेरे मन में कोई भी कामना उत्पन्न न होने दें । आपसे मैं सिर्फ यही वर चाहता हूं ।'' जब कोई व्यक्ति अपने मन से सभी कामनाएं निकाल देता है तब ही वह भगवान की खोज की पात्रता प्राप्त कर लेता है ।**

अध्याय - VIII

वासना - निरसन स्कंध

५९. अष्टम स्कंध में प्रारंभिक उपाख्यान गजेन्द्र के मोक्ष का है और लगभग अंतिम उपाख्यान महाबली के आत्म-त्याग (वामन के रूप में भगवान का अवतार) है । प्रथम उपाख्यान में देखा जा सकता है कि **सद्वासना आगामी जन्म में भी अपार सहायता पहुंचाती है और संकट के क्षण में यह जीवन-रक्षक भी साबित हो सकती हैं । यह सद्वासना ही है जो हमारे अन्दर थर्मोस्टेट (तापमान का स्वयं नियंत्रक) जैसी पड़ी हुई अनन्त शक्ति के बिन्दु जगाकर क्रियाशील बना देती हैं ।** सांसारिक जीवन में हम चाहे जितने भी तल्लीन रहें, ऐसा समय भी आता है जब कोई त्रासदी या विपत्ति हमें तोड़ देती है, और उस क्षण हम यह सोचने को विवश हो जाते हे कि ऐसे संकट के क्षणों में भगवान् ही एकमात्र उद्धारक हैं । प्रथम अध्याय में विपत्तियों के वरदान मांगती हुई सर्वथा विलक्षण कुंती देवी को देखा है । संकट, दुःख तथा विपत्तियों की घड़ियां परम आनंद की ओर ले जाने वाले उच्चतर जीवन की ओर प्रयाण का प्रस्थान बिन्दु समझना चाहिए और उनका स्वागत किया जाना चाहिए ।

६०. गजेन्द्र की कथा में एक गूढ़ अर्थ भी निहित हैं । काल की गति से अनजान और बेखबर गजराज तीन चोटियों वाले त्रिकूट पर्वत पर अपनी हथनियों एवं अपने बच्चों के साथ विहार कर रहा था । एक दिन जब वह नदी में क्रीड़ारत था, एक मगर (ग्राह) ने उसका पैर पकड़ लिया और दोनों के बीच कई वर्षों तक संग्राम चलता रहा । दूसरे हाथियों द्वारा मदद किए जाने के बावजूद वह अपने आपको ग्राह के चंगुल से छुड़ा पाने में विफल रहा । यथासमय सभी हाथियों ने उसका साथ छोड दिया और वे भाग चले । स्वयं गजराज भी अपनी सारी शक्ति गँवाकर पूरी तरह पस्त हो गया और संग्राम जारी रख पाना वश की बात नहीं रही । अकस्मात् ही भगवान की कृपावश गजराज ने भगवान को याद की और साथ ही राजा के रूप में पिछले जन्म में की गई भगवान की प्रार्थना का भी स्मरण किया । **एक आध्यात्मिक उत्साह के अतिरेक में उसने भगवान को पुकारा और भक्ति भावना एवं दार्शनिकता से परिपूर्ण प्रार्थना की ।** चमत्कार ! प्रार्थना के परिणामस्वरूप भगवान उसके समक्ष प्रकट हो गए और उसका उद्धार किया ।

६१. गजेन्द्र मोक्ष का उपाख्यान वस्तुतः रूपक की भाषा में इस **जगत के सभी**

जीवात्माओं की कथा है । प्रत्येक जीव दुनियाई मामलों में तल्लीन, अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ वृत्तियों (त्रिकूट) अर्थात् सत्व रज और तम से आबद्ध है और इस बात से बिलकुल बेखबर है कि उसके प्रारब्ध में क्या है । फिर अचानक ही हरि की इच्छा से बुढ़ापे में वह गम्भीर आपदाओंका शिकार बनता है - संभव है यह गठिया जैसा कोई रोग हो जो मनुष्य का चलने-फिरने में अशक्त बना देता है । यह वह समय है जब सभी सगे-संबंधी मनुष्य का साथ देना छोड़ देते हैं और उसे उसके दयनीय भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं । इस समय मानो औषधियां भी उसके किसी काम की नहीं रह जाती । जब सभी ओर से वह पूर्णतया हताश हो जाता है, अनायास ही वह भगवान का स्मरण करता है । **वस्तुतः भगवान ही संकट के साथी हैं और निरपवाद रूप से भगवान उसे अपनी शरण में लेते हैं ।**

६२. इस कथा को कोई साधारण काल्पनिक कथा नहीं समझा जाना चाहिए । हाल ही में घटित ऐसी ही एक सच्ची कथा का उल्लेख अखंड ज्योति पत्रिका (शांति कुंज, हरिद्वार) के दिसम्बर, १९९१ अंक में हुआ है ।

सागर तट पर स्थित एक छोटे से गांव में अलफ्रेड जॉनसन बुडफेयर मोतियों की तलाश करने वाला एक गोताखोर था । वह एक पियक्कड़ था, चर्च या ईश्वर के प्रति उसके मन में किसी प्रकार की श्रद्धा नहीं थी । 'खाओ, पिओ और मौज करो' वाले भोगवादी दर्शन का वह पक्का हिमायती था । एक दिन पानी के भीतर गोताखोरी करते हुए वह एक आक्टोपास (आठ स्पर्शक हाथों वाला जलीय जन्तु) की चपेट में आ गया जिसने अपने तीक्ष्ण स्पर्शकों द्वारा जॉनसन के पूरे शरीर को लपेट लिया । उसकी नकाब फट गयी और उसका एकमात्र हथियार भी (एक छोटी-सी छुरी) हाथ से सरककर पानी में गिर गया । उस क्रूर पशु की द्वेष-भरी आंखें देखते ही उसके मुंह से अनायास 'हे भगवान' की चीख निकल पड़ी और उसकी चेतना शून्य हो गई। जब उसकी चेतना लौटी, तो समुद्र तट पर पड़ा था और उसके पार्श्व में अनेक टुकड़ों में विभक्त निष्प्राण आक्टोपस भी पड़ा था । उसके गोताखोर साथी ने बताया, जब उसने उसकी (जॉनसन की) तलाश में डुबकी लगाई, उसे आक्टोपस के स्पर्शकों से आबद्ध पाया, लेकिन आक्टोपस स्वयं ही अनेक टुकड़ों में पड़ा था । जॉनसन की आंखें कृतज्ञतापूर्ण आसुंओं से भर गई, क्योंकि उसे यह प्रतीत हो गया कि उसकी रक्षा किसी और ने नहीं, स्वयं भगवान ने ही की है । इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी चार्ल्स फिलमोर द्वारा जॉनसन के संदेश को प्रचारित करने के प्रयोजन से 'यूनिटी स्कूल ऑफ क्रिश्चियानिटी' की स्थापना की गई ।

६३. हाथी एक औसत मनुष्य का प्रतीक है, जिसके पास शरीर विशाल है लेकिन उसके अनुपात में दिमाग बहुत छोटा है। आपदा आने पर भगवान का स्मरण करना उन असद् वासनाओं के निवारण का एक तरीका है जो वर्तमान जीवन में हमें नचाते रहते हैं। इसी प्रकार महाबली से संबंद्ध अगले उपाख्यान में यह प्रतिपादित होता है कि समृद्धि की अवस्था में अपनी वासनाओंके निवारण का सुगम उपाय यह है कि हम अपनी सम्पत्ति दान में दे दें। **दोनों ही उपाख्यानों का सार यह है कि प्रत्यक्षत: विपत्ति और आपदा दिखने वाली स्थितियां आध्यात्मिक उत्कर्ष की सीढ़ियां साबित हो सकती हैं।** अत: ऐसी विपत्तियों में विलाप करने और हताशा में डूब जाने के बजाय हमें उनका स्वागत करना चाहिए।

६४. अगला उपाख्यान है क्षीरसागर के मंथन का और इस मंथन का उद्देश्य है अमरता प्राप्त करना। देवताओं को अमर बनाने के लिए, भगवान की सलाह पर यहां देवों और असुरों द्वारा संयुक्त रूप से सागर के मंथन का प्रकरण वर्णित है। मथानी के रूप में प्रयुक्त मंदार पर्वत चूंकि एक जगह स्थिर नहीं रह सकता था, भगवान ने स्वयं ही कूर्म (कछुआ) अवतार लिया और अपने को मंदार पर्वत के नीचे टिका दिया ताकि इसे स्थिरता प्रदान की जा सके। प्रारम्भ में उस सर्पराज के मुँह से जिसका उपयोग मथानी की रस्सी के रूप में किया जा रहा था अत्यंत विषैला हालाहल निकला और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के निष्प्राण हो जाने की भयावह आशंका उत्पन्न हो गई। किन्तु इस हालाहल को स्वयं निगल कर भगवान शिव ने स्थिति संभाली।

६५. उच्चैश्रवा (एक अद्भुत घोड़ा), ऐरावत (अतुलनीय शक्ति वाला सफेद हाथी), कौस्तुभ (दुर्लभ अमूल्य रत्न), सुन्दर और आकर्षक अप्सराएं, और धन की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी की जैसी विविध आकर्षक एवं अमूल्य निधियाँ समुद्र से प्रकट हुई और उनको इन्द्र, भगवान नारायण तथा असुर लोग आपस में बांट लिये। अंतत: अमृत का प्राकट्य हुआ।

६६. **समुद्र मंथन की यह कथा व्यापक अर्थों में ध्यान-प्रक्रिया का रूपक है। यह ध्यान ही अमरता एवं परम आनन्द का मुख्य प्रवेश द्वार हैं। ध्यान की प्रक्रिया वस्तुत: मन को मथने की प्रक्रिया है जिसके द्वारा वासना एवं सांसारिक विषयों के हालाहल को बाहर किया जा सके** (विषयान् विषवत् त्यज - सांसारिक चीजों को ऐसा तज दो जैसे वे विष हों - अष्टावक्र गीता) **और अंतत: आनन्द के अमृत का पान किया जा सके।** ध्यान का विचार साधक के मन में तभी उदय होता है जब उस पर गुरु या भगवान की

कृपा हों। इस क्रम में अनेक बाधाएं आती हैं। मन स्थिर होने से इनकार करता है और उसमें तरह-तरह के विचार आते रहते हैं इसे स्थिर करने का **एक सुगम उपाय यह है कि स्वयं भगवान की ही प्रार्थना की जाए,** क्योंकि वे प्रारम्भ से ही हमारे साथ होते हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश: । (भगवद् गीता -II-58)

(जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को अपनी ढाल में समेट लेता है।)

मथानी को स्थिर रखने के निमित्त भगवान का **कच्छप अवतार ग्रहण करने का अर्थ यह है कि जिस प्रकार बाहरी आघात का भय उत्पन्न होने पर कच्छुआ अपने को अपनी ढाल में समेट लेता है उसी प्रकार मनुष्य को अपने सारे सांसारिक सम्पर्कों से अपने को विरत कर लेना चाहिए।** सांसारिक विषयों में सदा निरत रहना ही मन की अशांति का कारण है। ध्यान की एक विशेष अवस्था में मनुष्य पाता है कि काम-वासना, घृणा आदि से संबंधित गंदे और विषैले विचार अधिक दृढ़ता एवं प्रचुरता से प्रकट होते हैं। यही हालाहल विष है। जब किसी गंदे नाले की सफाई की जाती है उसकी तीव्र दुर्गंध कभी-कभी असह्य हो जाती है। इस स्थिति से निपटने का एकमात्र उपाय है भगवान शिव बन जाना जो अनासक्ति एवं वैराग्य के प्रतीक हैं। ऐसी स्थिति में न तो काम-वासना (सेक्स) या घृणापरक विचारों के आस्वादन में और न उनके निषेध में प्रवृत्त होना चाहिए। उनके साथ किसी प्रकार का सहयोग किए बिना या उनके अस्तित्व या उनकी गतिविधियों को स्वीकृति दिए बिना, पूरी **तटस्थता से उसे नि:सहाय होकर मात खाते हुए देखना चाहिए।** अवचेतन में पड़े बुरे विचारों को बाहर निकलना ही है, हमें सिर्फ बैठकर उनके पलायन का तटस्थ भाव से देखना है। सांसारिक विचार का उठना अपने आप में कोई बुरी चीज नहीं। लेकिन जब हम यहीं लिप्त होकर इसी का विस्तार एवं चिंतन करने लगते हैं तो यह विषैला हो जाता है।

६७. **ध्यान में प्रतिष्ठित होने पर दूसरी अवस्था अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों या रहस्यमय शक्तियां प्राप्त करने की है।** ऐसी सिद्धियों के अंतर्गत दूसरे के मन की बात जान लेना, अन्यत्र होने वाली घटनाओं को देख लेना, भावी घटनाओं की भविष्यवाणी कर देना आदि शक्तियां आती हैं। **इसी स्थिति को समुद्र-मंथन से निकलने वाले आकर्षक रत्नों, अप्सराओं आदि के द्वारा वर्णन किया गया है।** ऐसी रहस्यमयी शक्तियां अत्यंत लुभावनी होती हैं क्योंकि ऐसे चमत्कारों की करामात से नाम और यश अर्जित करना आसान है। वस्तुत: ये सिद्धियां कुछ और नहीं, **साधक को वास्तविक लक्ष्य तक पहुंचने से रोकने वाली बाधाएँ हैं और अनेक साधक अपनी आध्यात्मिक यात्रा**

में प्रगति करने के बजाय इन्हीं सिद्धियों की भूल-भुलैया में फँसे रह जाते हैं । एसी सिद्धियों से उदासीन रहते हुए धैर्यपूर्वक अपनी ध्यान-साधना जारी रखने पर साधक को अंतत: ईश्वर-अनुभूति का अमृतत्व प्राप्त होता है ।

६८. दूसरा मुख्य उपाख्यान **राजा बलि का आत्म-त्याग है ।** ठिंगने कद वाले वामन ब्रह्मचारी के रूप में स्वयं भगवान विशाल यज्ञ करने वाले राजा बलि के पास आते हें और अपने नन्हे पैरों से मापकर तीन पग जमीन की याचना करते हैं । अपार सम्पत्ति के अभिमानी बलि को वामन द्वारा मांगे गए तुच्छ दान पर आश्चर्य हुआ । राजा ने वामन को समझाने का प्रयास किया कि वह कोई बड़ा दान माँग ले जो उसके शेष जीवन की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त हो लेकिन वामन अपने उसी विनम्र अनुरोध पर कायम रहे । ज्योंही बलि इस अनुरोध को स्वीकार लेते हैं और अपेक्षित अनुष्ठान द्वारा दान देने की प्रक्रिया का आरम्भ करते हैं भगवान अपना ब्रह्माण्डव्यापी विराट रूप प्रकट करते हैं जो पाताल लोक से आकाश तक विस्तृत था । प्रथम पग में वामन ने बलि के लोक का माप लिया, दूसरे पग में स्वर्ग (एवं अन्य मध्यवर्ती लोकों) को माप लिया और उसके शरीर ने पूरे अंतरिक्ष को घेर लिया । तीसरे पग के लिए कोई स्थान बचा ही नहीं । जब भगवान ने उससे प्रश्न किया कि वे अपना तीसरा पग कहां रखें क्योंकि बलि की सारी सम्पत्ति को तो दो ही कदमों में मापी जा चुकी थी तो बलि थोड़ा भी हिचक बिना झुक गया ओर अपने मस्तक की ओर संकेत किया ।

६९. इस कथा में अनेक गूढ़ार्थ निहित हें । **यदि हम अपने हृदय में भगवान को थोड़ा भी स्थान दे दें और उनके स्मरण, उनकी पूजा, उनके जप के लिए चौबीस घंटे में से थोड़ा समय भी निर्दिष्ट कर लें तो शीघ्र ही ऐसा समय आता है जब भगवान पूरे हृदय में व्याप्त हो जाते हैं और चौबीसों घंटों की दिनचर्या में छा जाते हैं । यदि पूरी निष्ठा से भगवान की ओर हम एक कदम भी बढाते हैं, तो वे हमारी ओर कई कदम बढ़ाते हैं - यह सभी साधनाओं का रहस्य है ।**

७०. दूसरी बात यह कि **गर्व और अहंकार आध्यात्मिक उन्नति की मुख्य बाधाएं हैं । जब कोई साधक आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होना चाहता है, लेकिन वह पाता है कि अपने सर्वोत्तम प्रयासों के बावजूद गर्व और अहंकार उसके कदम रोक रहे हैं तो स्वयं भगवान ही इन विघ्नों के निवारण के लिए प्रकट हो जाते हैं और साधक को उपयुक्त पथ पर अग्रसर करते हैं - क्योंकि भगवान किसी भी सच्चेसाधक को खोना नहीं** चाहते । जैसा कि बाईबिल में कहा गया है और पूरे भागवत

में बार-बार दुहराया गया है कि एक धनी व्यक्ति का स्वर्ग-द्वार में प्रवेश की तुलना में सुई के छेद से ऊंट का पार हो जाना अधिक आसान है ।

७१. ब्रह्मन् यमनुगृण्हामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
यन्मद: पुरुष: स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥ (VIII-22-24)

प्रह्लाद, ब्रह्मा एवं अन्य देवताओं की उपस्थिति में भगवान बलि से कहते हैं कि जब वे **किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति समृद्धि एवं शक्ति से वंचित कर उसे दीन बना देते हें, इसमें भी उनकी कृपा ही होती है और उस व्यक्ति के लिए आशीर्वाद होता हैं ।** जब किसी व्यक्ति को अपनी समृद्धि एवं विशेष अवस्था का अभिमान होता है, वह भगवान एवं सम्पूर्ण विश्व के प्रति असम्मान एवं अपमान की सीमा तक चला जाता हैं । **समृद्धि की अवस्था में, ईश्वर-अनुभूति प्राप्त करने के लिए अपने हृदय को पवित्र करने का सबसे आसान उपाय अपनी सम्पत्ति का दान कर अपने आप को पूर्ण अकिंचन बना लेना है ।**

७२. दूसरा महत्वपूर्ण पहलू सत्य के प्रति बलि का दृढ़ लगाव है । उसका यह लगाव तब भी बना रहता है जब उसे ज्ञात हो जाता है कि इस **सत्य-रक्षा की कीमत उसे अपने सम्पूर्ण स्वामित्व के विसर्जन, सर्वस्व खो देना, एवं विशेष दर्जे के त्याग के द्वारा चुकानी होगी । सत्य के प्रति ऐसी परम निष्ठा आध्यात्मिक प्रगति की अनिवार्य शर्त है ।**

७३. अपनी आध्यात्मिक साधना के पथ पर और आगे बढ़ने के पूर्व, अध्याय ५ से ८ तक तय की गई महत्वपूर्ण मंजिलों का हम एक सिंहावलोकन करते चलें :

१. आध्यात्मिक साधना के लिए **आवश्यक नहीं कि गृहस्थी छोड़ दी जाये** ओर जंगल में चले जाय । जिस व्यक्ति ने **सांसारिक आसक्तियों पर विजय प्राप्त नहीं की** है उसके लिए वन में भी बाधाएं खड़ी मिलेंगी । **जिस व्यक्ति ने गृहस्थी में रहते हुए अपनी पांचों इन्द्रियों पर नियंत्रण कर लिया है, वह तपस्या ही कर रहा है ।**

२. अपने पुत्रों को परामर्श देते हुए ऋषभदेव अपना बहु-सूत्री साधना-कार्यक्रम इस प्रकार बताते हैं :

- ❒ **गुरु के निर्देशों का पालन और गुरु एवं भगवान के प्रति भक्ति ।**
- ❒ **अमीरी-गरीबी, सुख-दु:ख आदि जैसी सभी विपरीतताओंको स्वीकार करने की वृत्ति ।**

- **यह प्रतीति कि सभी सांसारिक वस्तुओं की परिणति दु:ख ही है ।**
- **यह अनवरत जिज्ञासा कि 'मैं कौन हूं' और इस पर चिंतन करना ।**
- **मन से वासना, लोभ, शत्रुता और घृणा का त्याग; अनासक्ति और समत्व भाव का विकास ।**
- **भगवान की पूजा उनके नाम, उनकी महिमा एवं कथाओं का श्रवण, सत्संग और साधु संतों एवं भगवान के भक्तों की सेवा ।**
- **शरीर, सगे-संबंधियों, घर-गृहस्थी धन-सम्पत्ति आदि के साथ तादात्म्य आसक्ति वाली सभी भावनाओं से अपने-आप को विरत करना ।**
- **एकांत में योग-साधना करना; प्राण, इन्द्रियों एवं मन पर नियंत्रण रखना ।**
- **सत् (परमात्मा) पर पूर्ण विश्वास का तथा ब्रह्मचर्य का अभ्यास करना; सर्वदा सजग और सावधान रहना; वाणी पर नियंत्रण रखना ।**
- **धैर्य, अध्यवसाय और उत्साह के साथ सभी आध्यात्मिक साधनाओं को सम्पन्न करना ।**
- **सभी वस्तुओं में भगवान के दर्शन करना ;**
- **उपर्युक्त निर्देशों में से यदि एक का भी पूरी निष्ठा से अभ्यास किया जाय तो दूसरी बातें भी अपने-आप जीवन में उतरने लगती हैं ।**

३. अधम से अधम पापियों द्वारा करोड़ों जन्मों में किए गए पाप भी सिर्फ एक बार भगवान का नाम लेने से धुल जाते हैं । अनायास उच्चरित हो जाने पर भी **भगवान के नामों की शुभ तरंगे इतनी प्रभावशाली होती हैं कि सभी पापों एवं आपदाओं का निवारण हो जाता है ।** यहां तक कि मृत्यु की देवता यम भी ऐसे व्यक्तियों से पल्ला पड़ने पर निस्सहाय हो जाते हैं जिसने भगवन्नाम का उच्चारण कर लिया है क्योंकि ऐसा व्यक्ति भगवान के संरक्षण में होता है । विशुद्ध संसारी व्यक्तियों के संग से बचना चाहिए क्योंकि यह हानिकार है ।

५. किसी व्यक्ति का प्रारब्ध चाहे जो हो उसकी सांसारिक आसक्ति चाहे जितनी हो एक न एक दिन भगवान की कृपा उस पर बरसेगी क्योंकि उनकी कृपा-दृष्टि से परे कोई भी नहीं है और विविध आध्यात्मिक मार्गों में से किसी-न-किसी से भगवान सभी को अपने तक पहुँचने योग्य बनाते हैं ।

६. भगवान अपनी कृपा प्रदान करने में कभी पक्षपात नहीं करते - कृपा की वर्षा करने में उनकी कोई पसंद या नापसंद नहीं हैं । हमारा कर्तव्य है कि हम उनके अनवरत चिंतन द्वारा उनके साथ सहयोग करें ।

७. अनेक वर्षों की साधना के बाद भी यदि अपेक्षित प्रगति न हो तो हमें हताश नहीं होना चाहिए । यह संभव है कि हमारे भारी प्रारब्ध के कारण उसके क्षय हो जाने में काफी समय लग सकता है । यह भी संभव है कि हमारी निष्ठा या हमारे समर्पण में ही कमी हो । बिना निराश हुए नए विश्वास एवं नई एकाग्रता के साथ हमें आगे बढ़ना चाहिए ।

८. ईश्वर-अनुभूति प्राप्त करने के लिए अपने पिता को प्रह्लाद ने जो नवधा भक्ति के सूत्र बताएं हैं वे इस प्रकार हैं - "भगवान की महिमा एवं उनकी कथा का श्रवण, उनका गायन और उनकी चर्चा, भगवान के स्मरण, भगवान के श्री-चरणों की सेवा, उनकी पूजा, उनकी वंदना, दास की भांति उनकी सेवा, उनसे मैत्री और भगवान के प्रति शरणागति ।

९. **सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा, और दया का भाव** और इच्छाओं का अंत हमें निरपवाद रूप से भगवान की शरण में ले जाते हैं ।

१०. साधना के क्रम में आने वाली विपत्तियों से भी हताश नहीं होना चाहिए । ये हमारे आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए भगवान की ओर से प्रदत्त सोपान हैं ।

११. यदि अपने **हृदय में एवं अपनी दिनचर्या में भगवान को हम थोड़ी भी जगह देंगे, शीघ्र ही वे हमारा पूरा हृदय और पूरा जीवन आच्छादित कर लेंगे । उनकी ओर यदि हम एक कदम बढाएंगे, वे हमारी ओर कई कदम बढ़ जाएंगे ।**

१२. सभी बुरे विचारों को मन से रेचन हो जाना चाहिए और भगवान में गहरे विश्वास रूपी परिमार्जक द्वारा मनरूपी गंदे नाले की सफाई होने देनी चाहिए ।

१३. सिद्धि या चमत्कार प्रदर्शन की क्षमता के चक्कर में पड़कर अपनी साधना को भ्रष्ट नहीं करना चाहिए और अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति से चूकना नहीं चाहिए ।

१४. भगवान में दृढ़ विश्वास रखने वाले किसी भी साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति से वे वंचित होने नहीं देते । अपनी कृपा की वर्षा द्वारा वे उपयुक्त समय पर उसका उद्धार करने में तत्पर रहते हैं । यह एक परम सत्यकी बात है और उसमें अवश्य विश्वास करना चाहिए ।

वंशानुचरित स्कंध

७४ इस स्कंध में दो प्रमुख राजवंशों के कुछ विशेष महत्वपूर्ण राजाओं एवं भगवान के कुछ भक्तों के विविध उपाख्यान हैं ।

राजा अंबरीष की कहानी यह दर्शाती है कि किस प्रकार **सच्चे भक्त प्रतिशोध की भावना नहीं रखते,** भले ही दूसरे खुल्लमकुल्ला उसके सर्वनाश पर तुले हों; लेकिन किस प्रकार स्वयं भगवान ऐसे भक्तों की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहते हैं, भले ही भक्त सहायता के लिए भगवान से निवेदन न भी करें । इस कहानी द्वारा एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की भी स्थापना होती है; वह यह कि यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसे भक्त को जिसने स्वयं को पूरी तरह भगवान को अर्पित कर दिया है, कोई हानि पहुंचाता है या किसी प्रकार उसका अनिष्ट करता है तो भगवान के प्रतीकारात्मक कोप की दिशा आक्रामक की ओर मुड़ जाती है और ऐसी स्थिति में कोई भी देवता या शक्ति हस्तक्षेप या उसकी रक्षा नहीं कर सकती जब तक वह भक्त जो पीड़ित है, स्वयं ही आक्रामक के प्रति द्रवित होकर भगवान से उसकी रक्षा करने की प्रार्थना नहीं करता । साथ ही, सच्चा भक्त कभी भी किसी भी ऐसे **आक्रामक के प्रति ज़रा भी दुर्भावना, घृणा या विद्वेष नहीं रखता और वह सर्वदा क्षमा के लिए उत्सुक और तत्पर रहता है ।** यही विशेषताएं वे पहचान हैं जिनके आधार पर कोई भी आध्यात्मिक साधक एक आदर्श भक्त की कसौटी पर अपनी प्रगति का मूल्यांकन कर सकता है ।

७५. सौभरि की कथा से यह स्पष्ट होता है कि संसारी व्यक्तियों के संग का, भले ही वह कुछ समय के लिए ही हो, साधक पर कितना दुष्प्रभाव पड़ता है । वर्षों से सौभरि यमुना नदी के जल के अन्दर गहन तपस्या कर रहा था । एक दिन जब उसने आंखें खोलीं, उसने मत्स्यराज को सपरिवार जल-केलि करते देखा और इस दृश्य ने उसके भीतर विवाह करने की उत्कट इच्छा जागृत कर दी । अपनी योगिक शक्तियों का प्रयोग कर वह एक अति सुंदर युवा के रूप में परिणत हो गया, उसने पचास राजकुमारियों से विवाह किया और अपनी योगिक शक्तियों द्वारा निर्मित महलों में वह कई वर्षों तक उनके साथ रहा । बावजूद इसके, उसे पूर्ण तृप्ति नहीं मिली ।

संङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि ।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद् व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसंगः ॥ (IX-6-51)

अकस्मात ही सौभरि के ज्ञान का उदय होता है और वह कह उठता है - "हाय, मत्स्य को देख लेने मात्रा से, दीर्घकाल से परम सत्ता के ध्यान की उच्चतम अवस्था से मैं स्खलित हो गया । साधक को संसारी व्यक्तियों के संग का सर्वदा त्याग करना चाहिए और अपनी इन्द्रियों को बाह्य पदार्थों में प्रवृत्त नहीं करना चाहिए । **भगवान का सतत स्मरण करते हुए उसे या तो पूर्ण एकांत में रहना चाहिए या पुण्यात्माओं के संग में रहना चाहिए** (यदि कोई-न-कोई संग अपरिहार्य हो तो) ।

७६. इस स्कंध में रामायण की भी संक्षिप्त कथा है ।

स्त्रीसंगिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार ॥ (IX-10-11)

वन में सीता की खोज करते राम के रोते हुए भटकते फिरने की कथा कहते हुए व्यास यह विचार व्यक्त करते हैं : "भगवान ने संसार को यह दिखाया कि स्त्रियों के संग के अभिलाषी व्यक्ति की कैसी दयनीय अवनति होती है ।" यही विचार पुरूरवा की कथा में और भी विस्तार से अभिव्यक्त हुआ है । राजा ययाति की कथा में भी ययाति अपने युवा पुत्र पुरु से अपनी वृद्धावस्था का उसकी युवावस्था से परस्पर आदान-प्रदान कर लेता है और सहस्रों वर्षों तक दाम्पत्य सुख का भोग करता है ।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ (IX-19-14 एवं 17)

जब ययाति को यह प्रतीति होती है कि इतना कुछ करने के बावजूद उसकी इन्द्रियों को तृप्ति नहीं मिली पश्चाताप में वह कराह उठता है - "कामेच्छाओं का अंत नहीं होता, विषयभोग से कभी तृप्ति नहीं होती । ऐसी इच्छाओं को पूरा करने या उन्हें तृप्त करने का जितना ही प्रयास किया जाता है, वह उतनी ही उद्दीप्त होती जाती है जैसे आग में घी डालते

रहने से होता है । एकांत में किसी स्त्री के साथ अकेले नहीं रहना चाहिए, चाहे वह अपनी मां, बहन या बेटी ही क्यों न हो क्योंकि इन्द्रियां बड़ी प्रबल होती है और वे बुद्धिमान व्यक्ति को भी कुपथ पर आकर्षित कर सकती हैं ।''

७७. इस स्कंध का अंतिम महत्वपूर्ण उपाख्यान राजा रंतिदेव का है । देश में भीषण अकाल के समय भूखी प्रजा को वितरित करते-करते उनके भंडार में रखे सारे अन्न और जलाशयों के सारे जल समाप्त हो गये । बिना अन्न-जल ग्रहण किए वे ४८ दिनों तक सपरिवार भूखे रहे । संयोग से उन्हें जब थोड़ा अन्न-जल मिला, भूख-प्यास से त्रस्त कई भूखे लोग बारी-बारी से अन्न-जल की याचना करते हुए वहां आ गए और उन्होंने उनमें भगवान के दर्शन करते हुए अपने पास रहे अन्न को भी वितरित कर दिया । जब वे बिलकुल मृत्यु के कगार (किनारा) पर थे और जल की एक बूंद सुड़कने (मुँह से धीरे धीरे सुड़ सुड़ शब्द करते हुए ऊपर खींचना) ही वाले थे, एक दीन-हीन व्यक्ति उनके पास हांफता हुआ आया और अपने सूखे मुंह और ओठों को भिगोने के लिए जल की याचना की । राजा ने बिना किसी हिचक के उसे उपकृत किया ।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः । (IX-21-12)

रंतिदेव भगवान से प्रार्थना करते हैं : ''हे भगवन ! मुझे न तो मोक्ष चाहिए, न कोई उच्चपद चाहिए । और न ही अपार सम्पदा चाहिए । कृपया मुझे यह वर दें कि मैं सभी प्राणियोंके हृदय में निवास करूं और सारे दुखों से उन्हें मुक्त कर उनके सभी कष्टों एवं विपत्तियों को मैं अंगीकार कर लूं ।''

अध्याय - X

निरोध स्कंध

७८. दशम स्कंध भागवत का सबसे बड़ा स्कंध है । इसमें ९० अध्याय हैं । इसके बाद सबसे बड़ा तृतीय स्कंध है, जिसमें ३३ अध्याय हैं । इस स्कंध में मुख्य रूप से भगवान कृष्ण की लीलाएं वर्णित हैं । यदि कृष्णके जीवन से संबंधित घटनाओं के गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों के प्रति हम श्रद्धा न भी रखें और इन सभी घटनाओं को हम मात्र कपोल कल्पना ही समझें, तब भी आगे क्रमशः स्पष्ट होते चलने वाली इस कथाको जब कोई पढते चलता है; भगवान के बचपना की शरारतें, बालपन के क्रीड़ा-कोतुक और उनकी महिमा के विषयमें सोचता है, उनका स्मरण करता है; भले ही यह पुराकथा क्यों न हो; फिर भी यह उस भगवान की कथा है जिसने मनुष्य रूप में अवतार लिया । इन लीलाओं को सुनने मात्र से, **किसी भी ऐसे साधक का मन, जिसमें अपनी वासनाओं से मुक्त होने की पात्रता आ गई है, आसानी से एकाग्रता (ध्यान) को प्राप्त हो जाता है और यह एकाग्रता (ध्यान) उसे बड़ी सुगमता से समाधि की परम चैतन्य अवस्था में अधिष्ठित कर देती है;** क्योंकि यह कहा गया है कि - **''यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः''** अर्थात् जहां भी मन **दृढ़ता से स्थित हो जाय वहीं समाधि का अनुभव प्राप्त किया जा सकता है ।** यही कारण है कि इस प्रसंग को निरोध स्कंध (विचारों का नियंत्रण करने वाला) कहा गया है । लक्ष्य प्राप्त करने की यह एक युक्ति है और हमारे प्रयोग के लिए जितनी भी युक्तियां हैं वे सभी अवास्तव (मिथ्या) और माया के साम्राज्य के अंतर्गत ही हैं । लेकिन यह युक्ति हमें ईश्वर-अनुभूति की ओर प्रवृत्त करती है, तो इसकी वास्तविकता आदि से हमें क्या मतलब ?

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥ (IX-1-13)

नौ स्कंधों की कथा सुनने के बाद इस स्कंध के आरम्भ में ही राजा परीक्षित अनुराग एवं एकाग्रता की उस अवस्था में पहुंच गए हैं, जो उनके ऊपर उद्धृत शब्दों से प्रमाणित होता है - ''हे ऋषिवर, आपके श्रीमुख से प्रवाहित होने वाले भगवान की महिमा के अमृत का मैं पान कर रहा हूं, जिस हेतु न तो भूख और न ही प्यास का मुझ पर कोई असर है (यद्यपि पिछले चार दिनों से मैंने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया है) ।''

७९. कृष्ण के अग्रज बलराम एवं अन्य गोप-बालकों ने कृष्ण को मिट्टी खाते देखा; किन्तु उन पर जब मिट्टी खाने का अभियोग लगा, अपनी मां से स्पष्ट शब्दों में यह कहते हुए कि उन्होंने मिट्टी नहीं खाई उन्होंने इस आरोप को सहजता पूर्वक निरस्त कर दिया। कुछ लोगों को इस बात से आघात पहुंचता है कि स्वयं भगवान असत्य भाषण करते हैं, जबकि कृष्ण के रूप में उनका अवतार धर्म की स्थापना के लिए हुआ था। यहां एक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक रहस्य निहित है। कृष्ण ने कभी भी असत्य भाषण नहीं किया। **भगवान होने के नाते उनमें कर्त्तापन का कोई भाव नहीं था। जब प्रारब्ध या कर्म या नियति के अनुरूप शरीर और इन्द्रियां विविध कार्य-व्यापारों में संलग्न थीं, आध्यात्मिक रूप से जागृत आत्मा शुद्ध साक्षी भाव से स्थित थी, जिसे चैतन्य अवस्था कह सकते हैं। उनमें किसी भी प्रकार के अहम् का लेशमात्र नहीं था जो कर्त्तापन का श्रेय लेता। यह स्थिति कर्म में अकर्म देखने की बात है और प्रत्येक साधक में इस अकर्म स्थिति में स्थित होने की आकांक्षा होनी चाहिए।**

८०. भगवान की दामोदर लीला में बालक कृष्ण को मां यशोदा एक पुराने काठ के ऊखल में बांधना चाहती हैं लेकिन इस प्रयोजन के लिए वे जिस रस्सी (दाम) उपयोग कर रही थी वह दो इंच छोटी पड़ जाती थी। उस रस्सी में वे और भी रस्सी जोड़ती गई, फिर भी रस्सी दो इंच छोटी की छोटी ही रही। रस्सी जोड़ते रहने की यह प्रक्रिया वे बार-बार दुहराती रहीं, घर की सारी रस्सियां इस निमित्त लगा दी गई, फिर भी इन सबका योग अपेक्षित से छोटा ही रहा। **यह लीला यह बताने के लिए है कि किसी साधक को यह नहीं सोचना चाहिए कि मात्र उसके स्वयं के प्रयत्न से ईश्वर-अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। वस्तुतः भगवान की कृपा ही वह तत्व है जो अन्त में यशोदा को भगवान के बाँधने के प्रयास में सफलता देती है। हर मनुष्य को इस कृपा प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।**

८१. वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥ (X-10-38)

कुबेर के दो पुत्र शापवश यमलार्जुन (अर्जुन के दो वृक्ष) बन गए थे। बालक कृष्ण

ने जब ऊखल फंसाकर इन वृक्षों को उखाड़ कर उन्हें शापमुक्त कर दिया और उनका उद्धारकर पुनः उन्हें युवक रूप में परिणत कर दिया, इन भाइयों ने भगवान से यह वर मांगा -

"हे भगवान, कृपया यह वर दें कि हमारी जिह्वा निरंतर आपकी स्तुति एवं महिमा का गान करती रहे, हमारे कान निरंतर उसे ही सुनते रहें, हमारे हाथ निरंतर आपकी सेवा में संलग्न रहें, हमारे मन आपके पावन श्रीचरणों के चिंतन में लीन रहें, हमारे शीश उस सम्पूर्ण जगत के वंदन में झुके रहें जो आपका निवास है, और हमारे नेत्र उन पावन पुण्यात्माओं के दर्शन में मग्न रहें जो आपके ही मूर्त रूप हैं।"

८२. भागवत में एक विचित्र योग का उल्लेख है और वह है **'स्तेय योग' (भगवान से साक्षात्कार के लिए चोरी का (चौर्य) पथ** X-8-29 और 31)। योगशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के सभी ग्रंथ साधक के लिए अस्तेय (चोरी न करना) गुण के विकास की शर्त प्रतिपादित करते हैं; जबकि यहां भगवान कृष्ण के दूध चुराने, दही चुराने, मक्खन आदि चुराने का उल्लेख, योग (भगवान तक पहुंचाने वाला पथ) के रूप में हुआ है। **'तत् त्वम असि'** इस महावाक्य पर विचार ध्यान करने से मनुष्य ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करता है; अस्तेय का विधान साधक को दृष्टि में रखकर किया गया है (यह 'त्वम' आधारित साधना है)। **स्तेय योग 'तत्' (ईश्वर/भगवान) आधारित साधना है; इस साधना में भगवान द्वारा की गई चोरी का श्रवण करने मात्र से मन एकमात्र भगवान पर केन्द्रित हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप मनुष्य समाधि की अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाता है।**

८३. तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥ (X-14-8)

एक अन्य प्रसंग में जगत् के सृजनकर्त्ता ब्रह्मा मोहग्रस्त हो जाते हैं और उनके मन में परीक्षा की इच्छा जागृत होती है कि वृंदावन के धूल-धूसरित गोप-बालों (चरवाहों) के संग खेलने वाला और साधारण-सा दीखने वाला यह बालक क्या वस्तुतः स्वयं भगवान है। जब भगवान उन्हें एक अविस्मरणीय शिक्षा देते हैं, ब्रह्मा को पश्चात्ताप होता है और भगवान की स्तुति करते हुए वे कुछ स्तोत्रों का गान करते हैं। उनमें से एक में तीन अमूल्य साधनाएं हैं जो किसी व्यक्ति को ईश्वर की अनुभूति कराने में सर्वथा समर्थ हैं। (ऊपर के श्लोक में) ब्रह्मा

गाते हैं - **''भगवन, जो व्यक्ति आपकी प्रार्थना करने एवं आपकी कृपा की आकांक्षा करने में अपना समय बिताता है; पिछले जन्मों के कर्मों (प्रारब्ध) के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले सुखों और दुखों को जो शांति से स्वीकार करता है और जो मन, वाणी एवं कर्म से आपकी आराधना करता है; वह अंततः मुक्ति का अधिकारी बनता है।''** इस प्रकार, वस्तुतः यहां एक ही में तीन साधनाएं निहित हैं - (१) **भगवान की कृपा के लिए निरंतर प्रार्थना;** (२) **प्रारब्ध के कारण प्राप्त सुख-दुःख का सहज भाव से वरण (स्वीकार)** और (३) **मन, वाणी एवं कर्म से भगवान की वंदना।** भगवत् कृपा की आकांक्षा से मनुष्य को आर्त रुदन एवं प्रार्थना करना चाहिए। भगवान को प्राप्त करने के लिए स्वयं भगवान की ही सहायता क्यों न ली जाए ? जीवन में आने वाले दुःखों और आपदाओं के प्रति तीखीं प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे हमारे ही पूर्व कर्मों के परिणाम हैं। इनके द्वारा हमारे **मन का परिष्कार** होता है। **हरि-इच्छा को पूरी तरह स्वीकार करना** और सभी विपत्तियों को प्रसन्नतापूर्वक लेना अपने आप में एक साधना है। **भगवान का सतत स्मरण, उनके प्रति मन, वाणी एवं कर्म से पूर्ण समर्पण, मानव जाति के हित में निःस्वार्थ कर्म, भगवान का निरंतर चिंतन, और मौन में स्थित रहना या अपनी वाणी भगवान को अर्पित कर देना या आवश्यकतानुसार मात्र भगवन्नाम या भगवत्-महिमा के उच्चारण के लिए वाणी का प्रयोग करना आध्यात्मिक लक्ष्य की अनुभूति के अचूक साधन हैं।**

८४. इस स्कंध के २१ वें अध्याय में वेणुगीत (मुरली का गीत) का एक रोचक प्रसंग है। गोपियां भगवान कृष्ण के प्रति ऐसी समर्पित हैं कि वे जहां भी जाती हैं, उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि **सारी प्रकृति भगवान की आराधना कर रही है और उनकी सम्मोहक सुंदरता पर सम्मोहित हैं।** काले हिरणों के साथ हिरणियों के उस झुंड के प्रति उन्हें ईर्ष्या होती है जो सम्मोहित-सी कृष्ण की मुरली की मीठी तान सुनने आ जाती हैं। भगवान के चारों ओर एकत्र गायों एवं बछड़ों को भी वे देखती हैं। वे यह भी देखती हैं कि माताओं के थनों से स्रवित होते दूध पीना भूलकर बछड़े उत्कर्ण बने कृष्ण की मुरली की तानों का श्रवण-रंध्रों से पान कर रहे हैं। वे कल्पना करती हैं कि नदियां और झरने उत्साहपूर्ण आवेग के साथ अपनी तरंग रूपी हाथों से भगवान के चरण-कमलों में कमलपुष्प अर्पित करने को उद्यत हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्षों की शाखाओं पर आंखें बंद चुप-चाप बैठे पक्षी ऋषि हैं जिन्होंने भगवान की मुरली से निकलने वाले दिव्य संगीत का आनंद उठाने के लिए वह रूप

धारण किया है। जब रात्रि में भगवान की मुरली का सुमधुर स्वर गूंजने लगता है, भगवत् प्रेम से परिपूर्ण हृदयवाली गोपियां उस समय चाहे जिस सांसारिक कार्य में संलग्न हों, उन्हें छोड़कर उस स्वर की ओर तत्काल दौड़ पड़ती हैं।

अपने पति और बच्चों को भोजन करा रहीं गोपियां, गाएं दुह रही गोपियां, अपना श्रृंगार कर रहीं गोपियां, सभी अपना-अपना कार्यकलाप बीच में ही छोड़कर भगवान की ओर दौड़ पड़ीं। भगवान की ओर दौड़ पड़ी गोपियों को न तो अपने बालों की सुध है और न अपने वस्त्रों की; वे अपने शरीर के प्रति बिलकुल बेसुध हैं। हममें से कितने अपने सारे कार्यकलाप छोड़कर तत्काल भगवान की ओर चल पड़ने को उद्यत होंगे ? **उनके आह्वान की ध्वनि हमारे हृदय में गूंजती रहती है,** लेकिन हममें से थोड़े ही लोग इसकी ओर ध्यान दे पाते हैं।

८५. दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष निर्वृत्या क्षीणमंगलाः॥ (X-29-10)

जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥ (X-29-11)

इस उपाख्यान का दूसरा सुंदर पक्ष यह है कि एक ओर सिर्फ वे गोपियां जो उस रात यमुना किनारे स्थित कृष्ण की ओर दौड़ पड़ी, उनका सान्निध्य-लाभ उठा सकीं; दूसरी ओर कुछ ऐसी गोपियां भी थीं जो अपने पतियों या अन्य संबंधियों द्वारा रोक ली गईं। ऐसी गोपियों को तत्काल मुक्ति मिल गई। **ऐसी मुक्ति तभी संभव होती है जब संचित पुण्य या पापके कोष का पूर्णतः क्षय हो जाता है** ताकि आत्मा को पुनः शरीर धारण करने की आवश्यकता न रह जाए, क्योंकि किसी पुण्य या पाप के फल का अनुभव करना शेष नहीं रह जाता। उन गोपियों की अवस्था अत्यंत दयनीय थी जो बिना निकास निकलने के ललिए खुला मार्ग वाले अंधेरे कमरे में बंद कर दी गई थीं और अपने प्रिय भगवान के वियोग की ज्वाला (आग) में उनका पूरा शरीर जल रहा था। इस प्रकार अकथनीय और दारुण कष्ट के अनुभव ने उनके पापकोष को नष्ट कर दिया। इसी प्रकार भगवान का ध्यान करते हुए अपनी कल्पना में उन्होंने अनुभव किया कि भगवान उन्हें आलिंगन कर रहे हैं और उन्हें परम आनंद की अनुभूति हो रही है। इस परम आनंद ने उनके पुण्य के कोष का क्षय कर दिया। इस प्रकार अपने पुण्य एवं पाप के सारे संचय का अंत कर, संसार (जन्म-मृत्यु का चक्र) के बंधन से तत्काल मुक्त होकर, उन्होंने अपने शरीर का त्याग कर दिया और मोक्ष प्राप्त कर लिया। यह साधना की परम अवस्था है। एकमात्र भगवान के लिए तीव्र उत्कंठा ही मुक्ति का द्वार है।

काली का दर्शन न कर पाने की स्थिति में हताश रामकृष्ण परमहंस अपना मस्तक काट डालने को उद्यत हो गए और इस प्रबल उत्कंठा के कारण उन्हें तत्काल दर्शन हुआ (अनुभूति हुई)। **भगवान के प्रति गोपियों का प्रेम और उनकी भक्ति, सभी संसारी आसक्तियों को भस्मसात करने वाली थी, परिणामस्वरूप उनका सारा अहंकार मिट गया।** नैतिकता के सारे मानदंडों का अतिक्रमण कर समाज का बहिष्कार सहने को भी वे उद्यत थीं। वस्तुतः **उनमें शरीर-भाव बचा ही नहीं था** और पुण्य एवं पाप नैतिकता एवं अनैतिकता के स्वीकृत मानदंडों से परे वे एकमात्र कृष्ण में स्थित हो गई थीं। नारद अपने भक्ति-सूत्र में इन गोपियों को सर्वोच्च श्रेणी का आदर्श भक्त स्वीकार करते हैं।

८६. गोपियां इस तथ्य से पूरी तरह अवगत थीं कि कृष्ण मात्र उनके सुंदर पड़ोसी नहीं हैं, बल्कि ब्रह्मा के विशेष अनुरोध पर सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के लिए स्वयं भगवान ने ही उनके रूप में अवतार लिया है। जब उनके बीच से कृष्ण ओझल हो जाते हैं, उस समय विलाप करते हुए वे स्पष्ट रूप से इस सत्यको प्रकट करती हैं। (गोपिका गीतम, X-31-4) - "हे कृष्ण, हम यह अच्छी तरह से जानती हैं कि आप किसी गोपी के पुत्र नहीं हैं। इसके विपरीत **सभी शरीरधारी लोगों के हृदय में स्थित आप साक्षी रूप हैं (अन्तर्यामी)।** हमें यह भी ज्ञात है कि ब्रह्मा की प्रार्थना पर सम्पूर्ण जगत के परित्राण के लिए जगत् में गोप-कुल में जन्म लिया है।"

८७. आदर्श भक्ति वह है जिसमें **भक्त अपने प्रियतम (आराध्य) की प्रसन्नता एवं कल्याण में प्रमुदित होता है और अपने प्रिय के दुःख में दुखी होता है।** अपने विलाप के क्रम में गोपियां अपनी उस मानसिक अवस्था का उल्लेख करती हैं जब गाएं चराने के लिए कृष्ण नित्य ही वृंदावन चले जाया करते थे - "हे भगवान ! गाएं चराते समय आपके नंगे कोमल पांव नुकीले पत्थरोंके, अंकुर एवं कांटों से विंध कर लहू-लुहान खून से तर-बतर शरीर हो जाने की बात जब हम सोचती थी तो हमारी दशा कैसी दयनीय हो जाती थी।" (X-31-11)

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥ (X-31-9)

गोपियाँ रोते हुए गाती हैं - "भगवन्, आपकी कथा एवं महिमा का श्रवण दिव्य अमृत तुल्य है जो दुखों से भरे मरणासन्न व्यक्तियों के हृदय को नए प्राणों से अनुप्राणित और पुलकित कर देता है। ज्ञानी लोग इस बात को बार-बार दुहराते हैं कि यह अमृत हमारी सभी वासनाओं एवं पापों को निर्मूल कर सकता है। जो भक्त भगवत् महिमा के ज्ञान से युक्त हैं वे ही इस ज्ञान को बांटने का महान पुण्य कार्य करते हैं और यही श्रेष्ठ दान है।

८८. जब शुकदेव कृष्ण की गोपियों के साथ क्रीड़ा (रास क्रीड़ा) का वर्णन आरम्भ करते हैं; राजा परीक्षित अनायास ही एक प्रासंगिक प्रश्न पूछ बैठते हैं। यह सवाल बहुत-से आधुनिक स्त्री-पुरुषों को मथता रहता है - "उस भगवान की महिमा की प्रशंसा कोई कैसे बखान कर सकता है जो धर्म एवं नैतिकता के ऊंचे मान-मूल्यों की जगत् में पुनःस्थापना के लिए स्वयं अवतार लेने का संकल्प करते हैं, लेकिन साथ ही वे परस्त्रियों के साथ बहिरंग रूप से रास क्रीड़ा खेलते हुए निन्दा अपवाद तथा आलोचना के पात्र बन जाते हैं। इसे शास्त्रों में निर्विवाद रूप से एक घिनौना जिसे देखने श्से मन में घृणा उत्पन्न हो कर्म कहा गया है। (X-33-27 से 29)

८९. अब इस उपर्युक्त अभियोग के संबंध में ज्ञात तथ्यों को हम क्रमबद्ध कर लें :

१. विशुद्ध चैतन्य स्वयं अपनी ही अपनी पूरी गरिमा के साथ कृष्ण के रूप में प्रकट हैं - **"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"** "वस्तुतः कृष्ण स्वयं भगवान ही हैं, कोई और नहीं।" इस प्रकार **सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं इसके निवासियों के रूप में प्रकट वे एकमात्र यथार्थ हैं। सारे ब्रह्मांड केवल भगवान के लीलामात्र हैं** और भगवान के उस संबंध के अतिरिक्त इस निर्मित ब्रह्माड का न तो कोई अस्तित्व है और न इसमें कुछ सत्य है। मांडूक्य उपनिषद् की अपनी कारिका में गौड़पाद कहते हैं कि भगवान की लीला का कारण उनका स्वभाव ही है" - **"देवस्येषः स्वभावोऽयम्॥"**

२. **भगवान कृष्ण ब्रह्माण्ड के सभी प्राणियों के हृदय में स्थित परम सत्ता हैं,** इन प्राणियों में गोपियां, उनके पति-बच्चे तथा दूसरे भी शामिल हैं। वे कोई बाहरी सत्ता नहीं, **सभी प्राणियों की अंतरात्मा हैं,** इनमें गोपियां भी शामिल हैं - सभी उनके ही हैं और वे सबके हैं। सब कुछ उनकी लीला है और उन्हीं की शक्ति का चिद्विलास है। यह शक्ति भी उनसे अभिन्न है।

३. भगवान का शरीर उन पंचतत्वों से नहीं बना है जिनसे नर-नारी या अन्य प्राणियों का स्थूल शरीर निर्मित है। **उनका शरीर पूर्ण शुद्ध चैतन्य है।**

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि -
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः । (X-33-17)

भगवान की लीला (रास क्रीड़ा) का वर्णन करते हुए यह कहा जाता है - **''भगवान ने गोपियों के साथ उसी प्रकार क्रीड़ा की जैसे कोई शिशु दर्पण या जल में बनने वाले अपने प्रतिबिंब से खेलता है ।''** अतः गोपियां कौन थी या दूसरे प्राणी कौन थे ? वे अन्य कोई नहीं, भगवान के ही रूप हैं या ऐसा कहें कि उनके ही प्रतिबिम्ब हैं । अतः वे क्रीड़ा किसके साथ कर रहे थे ? अपने ही साथ या अपने प्रतिबिम्ब के साथ ।

४. हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गोपियों में कुछ दिव्य विभूतियां भी शामिल थीं । उग्रतप, सत्यतप, हरिधामा आदि जैसे कुछ महान संत अपनी घोर साधना के बलपर गोपियों के रूप में उत्पन्न हुए थे । इनके इस जन्म का प्रयोजन ही यह था कि बृंदावन की जिस भूमि पर स्वयं भगवान विचरते हैं उस भूमि पर विचरण का आनंद ये भी ले सकें । भगवान के मनुष्य रूप के साथ क्रीड़ा करने की इच्छुक वेद की अनेक ऋचाओं ने भी गोपियों के रूप में जन्म ग्रहण किया था । चैतन्य महाप्रभु ने गोपियों को **''प्रेम संन्यासिनी''** कहा है । **यह प्रेम का शुद्धतम और उच्चतम स्वरूप है** (जिसमें भौतिक या शारीरिक कुछ भी नहीं है) इस अवस्था में शास्त्रों में वर्णित सारे सामान्य नैतिक मानदंड एवं धर्म लागू ही नहीं होते । इस संदर्भ में नारद के भक्ति सूत्र में एक सूत्र है -

''वेदानपिसन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ।।''

५. शास्त्रों (धर्म ग्रंथ) में **कृष्ण को अखंड ब्रह्मचारी** (अच्युत) कहा गया है । सामान्य दृष्टि से देखने पर भी रासक्रीड़ा के समय कृष्ण मात्र दस वर्ष के थे और गोपियों के साथ उनके साहचर्य को देहिक या वासनाजन्य (कामपरक) प्रेरणाओं से परिचालित देखना बेहूदेपन के अलावा और कुछ नहीं है ।

६. आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां ।
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।। (X-47-61)

मथुरा से कृष्ण का संदेश लाने वाले उद्धव समझते थे कि गोपियां कृष्ण के प्रति सम्मोहित असंस्कृत ग्रामबालाएं होंगी लेकिन गोपियों का गहरा अनुराग और उनकी अनुपम भक्ति देखकर चकित रह जाते हैं । वे प्रार्थना करते हैं - ''हे भगवन्, मैं इस बृंदावन में झाडी,

लता या पादप बन जाऊं ताकि पावन गोपियों के संचरण से कभी उनके चरण-रज मुझ पर पड़ सकें और मैं कृतकृत्य हो जाऊं ।''

९०. ऐसी मान्यता है कि गोपियों से संबंधित सम्पूर्ण रास-क्रीड़ा के पठन या श्रवण से **समस्त हृदय-रोगों का विशेषकर काम-वासना का निवारण हो जाता** है । प्रसिद्ध भाष्यकार जीव गोस्वामी के अनुसार **यह प्रसंग काम-विषयक भावनाओं एवं रोमांस (श्रृंगार रस) में अनुरक्त निरे संसारी व्यक्तियों को भी भगवान की ओर उन्मुख करने वाला है ।**

९१. कृष्ण का रुक्मिणी के साथ विवाह का प्रसंग दूसरा महत्वपूर्ण प्रसंग है जो कृष्ण की वयस्क अवस्था में सम्पन्न होता है । रुक्मिणी विदर्भ के राजा भीष्मक की बेटी थी । कृष्ण उस समय द्वारका के शासक थे । अनेक आगंतुक साधु-संतों एवं अन्य जनों से कृष्ण की विपुल प्रशंसा सुनकर रुक्मिणी ने निश्चय कर लिया था कि वह कृष्ण से ही विवाह करेगी । रुक्मिणी का अग्रज चूंकि कृष्ण से विद्वेष करता था, अतः रुक्मिणी का वाग्दान चेदिराज शिशुपाल से कर दिया गया और विवाह की तिथि भी निकट भविष्य में ही निर्धारित कर दी गई । इससे रुक्मिणी विचलित हो गई और एक विश्वासपात्र ब्राह्मण के माध्यम से कृष्ण का संदेश भेजकर उन्होंने यह अनुरोध किया कि वे आएं और उनका अपहरण कर लें । अपने संदेश में उन्होंने (रुक्मिणी ने) कहा - ''तीनों लोकों में अनुपम सौन्दर्य वाले भगवन् ! जब से मैंने आपके विलक्षण गुण सुने हैं, मैं आपके प्रति और आपकी महिमा के प्रति अभिभूत हूं और उत्कंठित मेरे शरीर को आपके गुण-श्रवण के परिणामस्वरूप शीतलता प्राप्त है और आंखें धारण करने का एकमात्र लाभ है आपके रूप का दर्शन करना । मैं एकमात्र आपकी हूं और शिशुपाल या किसी अन्य को मुझ पर दावा न करने दें । मेरे द्वारा किए गए सारे व्रत, भगवान, गुरु एवं अन्य (देवताओं) की पूजा का फल मुझे सिर्फ यह याहिए कि मेरी यह कामना पूरी हो जाए । कल मेरा विवाह शिशुपाल से हो जाए, उसके पूर्व आप अपने सेनानायकों के साथ गुप्त रूप से आएं और मुझे बलात् अपने साथ ले जाएं । स्वयं भगवान शिव भी अपने तमोगुण के नाश (निवारण) के लिए आपके पावन चरण-रज की कामना करते हैं । अब जब मैं आपके विषय में जान गई हूं, यदि इस जन्म में मुझे आपकी कृपा प्राप्त नहीं हुई, मैं उपवास कर कठोर तप द्वारा आपके प्रति अपनी उत्कंठा बनाए हुए जन्म-जन्मांतर तक अपने प्राण त्यागती रहूंगी, जब तक आप द्रवित न हो जाएं और मुझे स्वीकार न कर लें ।''

९२. बहुतों को यह विचित्र लग सकता है कि परीक्षित के जीवन के जब सिर्फ दो

दिन बच गए थे तो उनके द्वारा अभिलषित मोक्षके बजाय, कृष्ण के प्रति रुक्मिणी के रोमांटिक प्रेम-प्रसंग से शुकदेव उनका मनोविनोद कर रहे थे। रुक्मिणी का कृष्ण के प्रति **'प्रेम का संदेश' वस्तुतः जीव (जीवात्मा) की ओर से भगवान या परमात्मा को भेजा गया 'प्रेम पत्र' है। 'रुक्मिणी' का अर्थ है 'सुनहरे वर्ण का' और शास्त्रों में जीवात्मा को सुनहरे रंग का (हिरण्मयः पुरुषः) बताया गया है। जीव (सामान्य व्यक्ति) हर जन्म में 'शिशुपाल' के** (जीवन के) साथ ब्याह दिया जाता है, जिसका काम रह जाता है बच्चे उत्पन्न करना और उनका भरण-पोषण करना (शिशुपाल = शिशुओं का पालन करने वाला)। शादी करना, रुपए-पैसे कमाना, बच्चे उत्पन्न करना और उनका लालन-पालन करना-सामान्य जीवन जीने वाले अधिकांश जनों के यही कार्यकलाप होते हैं। बिरले जीव ही सत्संग में भगवान की महिमा का श्रवण करने आते हैं। **आध्यात्मिक जीवन में श्रवण (सुनना) प्रथम चरण है। एक बार भगवानके विषय में सुनना और उन पर अपना हृदय वार (न्योछावर कर) देना। यहां जीव को शिशुपाल के जीवन के साथ ब्याहा जाना स्वीकार नहीं है, वह स्वयं भगवान का वरण करना चाहता है।** जीव निःसहाय है और भगवान पर निर्भर है कि वे द्रवित हों और सांसारिक परिवेश से उसे बाहर निकालने में अपनी शक्ति का प्रयोग करें। यदि भगवत् कृपा इस जन्म में प्राप्त होती नहीं दिखती तो जीव आगामी जन्मों में भी तब तक तपस्या करते रहने और अपनी देह त्यागने के लिए कृतसंकल्प है जब तक यह उन्हें (भगवान को) प्राप्त नहीं कर लेता। **दृढ़ संकल्प और पूर्ण समर्पण ही वह मार्ग है** (जो हमारी आध्यात्मिक तलाश को सफल बनाती है) जिसके द्वारा आध्यात्मिक यात्रा की परिणति लक्ष्य-प्राप्ति में होती है। रुक्मिणी के प्रेम संदेश की यही अर्थवत्ता है। यह कोई सांसारिक प्रेमकथा नहीं है।

९३. उसके बाद सत्यभामा आदि सात अन्य राजकुमारियों और फिर भौमासुर के कारागार में यातना सह रही १६,००० राजकुमारियों के साथ कृष्ण के विवाह का प्रसंग (उपाख्यान) आता है। भगवान की महिमा और उनकी लीला सुनते हुए कभी भी न थकने वाले नारद कृष्ण की सभी १६००८ पत्नियों के घरों में जाते हैं और प्रत्येक घर में आदर्श गृह-स्वामी की भूमिका में विविध कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए उन्हें एक ही कृष्ण दिखाई देते हैं। कहीं वे अपने शिशुओं को दुलराते हुए, कहीं ब्राह्मणों के जूठे पत्तल का अवशेष ग्रहण करते हुए, कहीं ध्यान में निमग्न, कहीं अपने मंत्रियों से राज-काज संबंधी मंत्रणा करते हुए, कहीं पुराण-कथा और भगवत्-महिमा का श्रवण करते हुए, कहीं अपने माता-पिता की सेवा शुश्रूषा करते हुए और इसी प्रकार अन्य कर्त्तव्य-कर्मों में निरत दिखाई देते हैं।

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै -
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्नविभ्व्यः॥ (X-6-18)

भगवान एक आदर्श गृहस्थ की भूमिका का निर्वाह कर रहे थे; १६,००० से भी अधिक सुंदर युवतियों के भ्रू-विलास की सभी मुद्राओं (अदाओं) की, उनकी भौंहों एवं पलकों के कटाक्षों की, उनकी मारक मुस्कानों एवं दूसरी अदाओं हाव-भाव की, भगवान के परम अनासक्त मन पर एक **खरोंच/भी** नहीं पड़ी। फिर दस वर्ष की अवस्था में की जाने वाली रास-क्रीड़ा के विषय में क्या कहा जा सकता है।

आठ रानियां अष्ट सिद्धियों की प्रतीक हैं और अन्य १६,००० पत्नियां जगत में मन को लुभानेवाली **आकर्षक वस्तुओं के १६ मुख्य श्रेणियों की उपशाखाओं के प्रतीक हैं।** सारे आकर्षण ११ इंद्रियों के (पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय और मन) द्वारा ही मन के अन्दर आते हैं और ये आकर्षणशील सारे वस्तु पञ्चभूतों से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) ही बनी होती है। ऊपर वर्णित १६ श्रेणियों के किंचित् रूप परिवर्तन या उनके परस्पर संयोग से सहस्रों (हजारों) प्रकार के सांसारिक प्रलोभन अस्तित्व ग्रहण करते हैं, जिसके द्वारा उस का परिवार अपना जादू चलाता है। भगवान कृष्ण की १६,००८ रानियों की यही अर्थवत्ता प्रतीत होती है।

९४. युधिष्ठिर द्वारा आयोजित राजसूय यज्ञ में जब भगवान कृष्ण शिशुपाल का शीश काटने को विवश हो जाते हैं, एक प्रदीप्त आलोक शिशुपाल के शरीर से निकलता है और भगवान में विलीन हो जाता है।

ध्यायंस्तन्मतां यातो भावो हि भवकारणम्॥ (X-74-46)

लगातार तीन जन्मों से शिशुपाल का मन भगवान के प्रति शत्रुता से भरा था और इस द्वेष के कारण चूंकि वह अनवरत रूप से सिर्फ भगवान के विषय में ही अत्यंत प्रबलता से सोचता रहता था, अंततः भगवान के साथ उसका तादात्म्य हो गया। **मन ही जन्म-ग्रहण का कारण है।** घृणा के बहाने ही अनवरत ध्यान के परिणामस्वरूप शिशुपाल की आत्मा भगवान से एकाकार हो गई।

९५. कृष्ण के सहपाठी सुदामा की कथा से यह प्रमाणित हो जाता है कि **अपने भक्त से विशुद्ध प्रेम के अतिरिक्त भगवान कुछ भी नहीं चाहते ।** कृष्ण कहते हैं - "सच्चे प्रेम और भक्तिके साथ अर्पित एक पत्ता (पत्र/दल), एक फल, थोड़ा-सा जल ही मुझे प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त है ।" (X-81-4)

सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्च्चनम् ॥ (X-81-19)

कोई भी मनुष्य यदि चाहे तो प्रेमपूर्वक भगवान की आराधना कर समस्त समृद्धि और सांसारिक सम्पन्नता प्राप्त कर सकता है ।

अध्याय - XI

मुक्ति स्कंध

९६. अनेक विद्वान और भक्त ग्यारहवें स्कंध को सर्वाधिक उपदेशप्रद (शिक्षाप्रद) एवं सर्वाधिक मूल्यवान मानते हैं क्योंकि इसमें एक ही स्कंध में **आध्यात्मिक साधना की समस्त संभावनाएं समाहित हैं** और यह सीधे भगवान कृष्ण द्वारा उद्धव को शिक्षित किया गया है । कुछ लोग इस भाग को **उद्धव गीता** भी कहते हैं । यह स्कंध एक प्रकार से पूर्ववर्ती स्कंधों में वर्णित आध्यात्मिक उपदेशों की आवृत्ति है ।

९७. यह स्कंध नौ योगीश्वरों के वार्तालाप से आरम्भ होता है, जिसमें राजा निमि (विदेह) द्वारा व्यक्त विभिन्न शंकाओं का निवारण किया जाता है । इन योगियों में प्रथम, कवि, कुछ विधानों का उल्लेख करते हैं, जिसके द्वारा भगवान की अनुभूति संभव होती है ।

१. अपने शरीर के साथ (अपना तादात्म्य बना लेने से) अपने को जोड़ लेने से हमें हर प्रकार के भय एवं कष्ट प्राप्त होते हैं । शरीर का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता क्योंकि यह 'असत्' है अर्थात् यह यथार्थ नहीं है । **भगवान,** जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आत्मा है, **की वंदना (आराधना) ही हमें कष्टों एवं भयों से मुक्त करा सकती है ।** (X-2-33)

२. अपने प्राकृतिक गुणों आदि के कारण हम **अपने मन, वचन, कर्म या इन्द्रियों के द्वारा जो भी कार्यकलाप करें, वे सभी भगवान को समर्पित कर दें । कर्त्ता को कभी भी अपने कर्मों के फल प्राप्ति की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए ।** भगवान को अर्पित इस प्रकार के कार्यकलाप, हमें आबद्ध नहीं करते ।

३. चंचल मन को वश में रखना चाहिए और मन को सभी विचारों से मुक्त रखना चाहिए । अर्थात् **निर्विचार में प्रतिष्ठित होना चाहिए ।**

४. **भगवान की महिमा का श्रवण करते हुए** और बिना किसी लाज-शर्म के उच्च स्वर में **उनके नाम का कीर्तन करते हुए** मनुष्य को सभी प्रकार की आसक्तियों से निर्लिप्त रहना चाहिए ।

५. **निरहंकारिता का विकास करने के लिए** नदियों, समुद्रों और सभी प्राणियों को **भगवान का रूप मानकर उनका नमन करना चाहिए ।**

६. **भगवान के अनवरत चिंतन के द्वारा भक्ति, अनासक्ति और परम ज्ञान की प्राप्ति होती है** और इसके परिणामस्वरूप अंततः मुक्ति की प्राप्ति होती है । (XI-2-36,38,39,41,43)

९८. इसके बाद दूसरे योगी हरि - सर्वोत्तम भक्त के लक्षण बताते हैं । **जो सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् प्रेम और सम्मान रखता है और सब में भगवान का रूप देखता है** (क्योंकि भगवान सभी प्राणियों के आत्मतत्व हैं), वह भक्तों में सर्वोत्तम हैं । जिसके मन में इच्छा का बीज कभी अंकुरित नहीं होता और जिसने अपनी आत्मा को भगवान का निवास स्थान बना लिया है, वह **भक्तों में सर्वोत्तम है ।** जिसका मन भगवान के स्मरण से एक क्षण के लिए भी विरत नहीं होता और जो तीनों लोकों के वैभव-विलास से थोड़ा भी नहीं ललचाता वह भक्तों में सर्वोत्तम है (XI-2-45, 50, 53) ।

९९. दूसरे योगी - प्रबुद्ध - ने भगवान की माया, जो हमें अपनी मोहक दुनिया में फंसाए रहती है, को पराभूत करने के निमित्त निम्नलिखित साधना का विधान किया है :

१. अध्यात्म जगत् में प्रवेश के लिए **ब्रह्मवित् और वेदांत** (परम तत्व का दर्शन) **के ज्ञाता गुरु की शरण में जाना चाहिए ।**

२. मनुष्य को **पुण्यात्माओं का संग** (सत्संग) प्राप्त करना चाहिए और सभी संसारी चीजों से अपने मन को असंपृक्त रखना चाहिए । **सभी प्राणियों के साथ व्यवहार में दया, मैत्री एवं विनम्रता का विकास करना चाहिए,** इसके अतिरिक्त **शौच, तितिक्षा, मौन, ऋजुता, शास्त्रों के अध्ययन, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, समदृष्टि आदि गुणों का विकास करना चाहिए । सभी पदार्थों में स्वयं भगवान का ही प्राकट्य देखना चाहिए । सर्वदा भगवान की महिमा के श्रवण, कीर्तन एवं ध्यान में लगे रहना चाहिए ।** स्वयं को, अपनी पत्नी को, अपने बच्चों को और अपनी सम्पत्ति को भगवान के श्री चरणों में समर्पित कर देना चाहिए । जिसने ऐसा अभ्यास साध लिया वह बड़ी सुगमता से माया का अतिक्रमण कर लेगा (XI-3-21, 23 से 25,27,28) ।

१००. इसके बाद सर्वाधिक प्रसिद्ध उपाख्यान **दत्तात्रेय अवधूत द्वारा प्रकृति के चौबीस वस्तुओं** को अपना गुरु बनाना और हरेक से **कुछ-न-कुछ महत्वपूर्ण शिक्षा प्राप्त करना** है । ये २४ गुरु हैं : पृथ्वी, वायु, आकाश (अंतरिक्ष), जल, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, कबूतर, अजगर, सागर, पतंग (शलभ), मधुमक्खी, हाथी, मधुनिकालने वाला व्यक्ति, हिरण,

मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुमारी कन्या, बाण का निर्माता, साँप, मकड़ी और भृंगी । **दत्तात्रेय ने इन गुरुओं से जो सकारात्मक हैं** (आदर्श के रूप में अपनाए जाने योग्य) या जिनसे बचा जाना चाहिये मुख्य नकारात्मक शिक्षाएं प्राप्त कीं, यहां उनका संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है ।

पृथ्वी : प्राणियों द्वारा कई प्रकार से आघात पहुंचाए जानेके बावजूद धरती माता अविचल बनी रहती हैं । इसी प्रकार **आत्मनियंत्रण वाले व्यक्ति को अपने निर्धारित पथ से विचलित नहीं होना चाहिए** और बाहर से होने वाले किसी भी आघात के प्रति अविचल बने रहना चाहिए ।

इसके साथ ही पृथ्वी पर स्थित पर्वतों और वृक्षों से दूसरों के लिए जीना और दूसरों की सेवा में निरत रहना सीखना चाहिए ।

वायु : आध्यात्मिक क्षेत्र के **साधक को वायु की तरह असंपृक्त रहना चाहिए,** जो नाना प्रकार के पदार्थों के सम्पर्क में आने के बावजूद दूषित नहीं होती ।

आकाश : जिस प्रकार सर्वव्यापक **आकाश सभी पदार्थों में विद्यमान रहता है और तब भी उन पदार्थों का कोई भी गुण उसमें व्याप्त नहीं होता** उसी प्रकार संत को चाहिए कि वह उस परमसत्ता से अपना तादात्म्य रखे जो ब्रह्माण्ड के सभी चर-अचर पदार्थों में व्याप्त है और अपने को शरीर से असंबद्ध समझे ।

जल : संत स्वभाव से निर्विकार, मैत्रीपूर्ण और मधुर होने के कारण लोगों का उसी प्रकार कल्याण करते हैं जिस प्रकार गंगाजल अपने दर्शन, स्पर्श और **अपनी शक्ति से मनुष्य को पावन बनाता है ।**

अग्नि : तप के प्रभाव से देदीप्यमान संत अपने शरीर-पोषण के लिए कुछ भी ग्रहण करने के बावजूद **अग्नि की भांति निर्विकार एवं अप्रभावित बने रहते हैं ।** कभी तो वह अपने प्रभाव को गुप्त रखते हैं और कभी अपने सच्चे भक्तों के समक्ष उसे प्रकट कर देते हैं । अपने दाताओं द्वारा दिए जाने वाले खाद्य पदार्थ को ग्रहण कर वे **दाता के अतीत और भविष्य के पाप को अग्नि की भांति भस्म कर देते हैं ।**

चन्द्र : चन्द्रमा की बढ़ती और घटती कला सिर्फ समय का प्रभाव है, उसका अभ्यन्तर अपरिवर्तित रहता है । इससे यह शिक्षा मिलती है कि **विकास और क्षय सिर्फ शरीर का होता है, आत्मा का नहीं ।**

सूर्य : जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा जल का शोषण करता है और उपर्युक्त समयपर वर्षा के रूप में उसे छोड़ देता है उसी प्रकार योगी अपनी **इन्द्रियों द्वारा विविध पदार्थों को ग्रहण करते हुए भी उन्हें ग्रहण नहीं करता** । भिन्न-भिन्न जल-पात्रों में एक ही सूर्य के अनेक प्रतिबिंब दिखाई देते हैं । इसी प्रकार एक ही **आत्म-तत्त्व भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त दिखाई देता है ।**

कबूतर : एक बार एक नर और एक मादा कबूतर ने एक शिकारी के जाल में अपने बच्चों को फंसते देखा । अपने बच्चों के प्रति अवांछित आसक्ति के कारण उनकी दयनीय दशा से अत्यंत दुखी होकर वे भावुकता में बह गए और उन्होंने भी अपने आपको उस जाल में फंसा लिया । इससे शिकारी को और भी प्रसन्नता हुई । **इसी प्रकार जो गृहस्थ अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं रख पाता और अपने परिवार के प्रति आसक्त हो जाता है वह परिवार के साथ-साथ स्वयं भी दु:खों और संकटों का शिकार बन जाता है ।**

अजगर : जिस प्रकार अजगर अपने भोजन के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता उसी प्रकार **मनुष्य को भूख सह लेनी चाहिए** और उसे भोजन के रूप में जो कुछ भी प्राप्त हो जाए उससे संतुष्ट रहना चाहिए ।

पूर्ण स्वस्थ एवं सक्रिय होते हुए भी साधक को **अपनी इन्द्रियां, मन आदि को कर्मों में नहीं उलझाना चाहिए** बल्कि उसे अजगर की तरह **शांत बने रहना चाहिए** और उसे जीवन के परम लक्ष्य के प्रति अपने मन को सतर्क एवं चौकस बनाए रखना चाहिए ।

समुद्र : संत को समुद्र की तरह शांत व स्थिर होने के बावजूद अत्यंत **गहन, गंभीर अगाध, असीम और अविचल बनना चाहिए ।**

पतंग (शलभ) : अग्नि के प्रति अपने संघातिक आकर्षण के कारण शलभ उसमें नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार जिस व्यक्ति में **आत्म-नियंत्रण का अभाव होता है वह काम के आकर्षण का शिकार बनकर नष्ट हो जाता है ।**

मधुमक्खी : मधुमक्खी असंख्य पुष्पों से अत्यल्प मात्रा में उनका रस ग्रहण कर संग्रह करती है, उसी प्रकार मनुष्य को **शास्त्रों के सार को ग्रहण करते रहने की शिक्षा लेनी चाहिए ।** भिक्षुक को सिर्फ अपनी देह-रक्षा के लिए घर-घर से भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, संग्रह तो उसे आने वाले कल के लिए भी नहीं करना चाहिए । **यदि वह संग्रह करता है तो उस संग्रहीत धन के साथ ही मधुमक्खी की तरह वह भी नष्ट हो जाता है ।**

हाथी : संन्यासी को **स्त्रियों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहिए** अन्यथा वह उसी प्रकार बंधग्रस्त हो जाता है जिस प्रकार हथनी के सम्पर्क के कारण हाथी जाल में फंस जाता है ।

मधु जमा करने वाला : कृपण द्वारा परिश्रम से संग्रहीत **धन का यदि दान या अपने भोग के लिए उपभोग नहीं होता** है तो वह धन उसी प्रकार किसी के द्वारा छिन जाता है जैसे मधुमक्खियों के द्वारा एकत्रित मधु, मधु जमा करने वाले के द्वारा हड़प लिया जाता है ।

हिरण : तपस्वी को **अश्लील संगीत नहीं सुनना चाहिए,** उसे उस मृग से सबक लेना चाहिए जो हर्षविह्वल अवस्था में संगीत सुनता हुआ जाल में फंस जाता ।

मछली : काँटे में लगा चारा खाने के चक्कर में मछली पकड़ ली जाती है और मौत का शिकार बनती है, इसी प्रकार जो मनुष्य **स्वाद के चक्कर में पड़ जाता है वह शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है ।**

पिंगला वेश्या : पिंगला नाम की वेश्या जो पुरुषों की कामेच्छाओं की तृप्ति कर अपनी जीविका कमाती थी, एक दिन किसी अमीर ग्राहक के लिए आधी रात तक निष्फल प्रतीक्षारत रही । अकस्मात् उसे यह प्रतीत हुआ कि जिन क्षुद्र जनों ने उसे सिर्फ दु:ख, भय, चिंता और मोह दिया, उनके पीछे वह भागती रही जबकि सर्वाधिक प्रेममय, शाश्वत और उदार प्रेमी अर्थात् स्वयं भगवान को वह अनदेखा करती रही जो उसके सर्वाधिक समीप (हृदय में) हैं, इससे यह शिक्षा मिलती है कि **इन्द्रियजन्य सुख है, जो दुख और पीड़ा के कारण है । उस के पीछे भागने के बजाय भगवान की शरण लेनी चाहिए ।**

कुरर पक्षी : एक कुरर पक्षी अपनी चोंच में मांस का एक टुकड़ा लिए थी । दूसरे बड़े पक्षियों ने खदेड़ते हुए उस पर हमला किया । जब उसने वह मांस का टुकड़ा जमीन पर गिरा दिया तब उसे शांति मिली । इससे यह शिक्षा मिलती है कि जबतक मनुष्य पदार्थों की ओर भागता है तब तक वे पदार्थ दुख के कारण बने रहते हैं । **वस्तुओं का संग्रह और उनके प्रति स्वत्व कलह का मूल और शांति-नाश का कारण है ।**

शिशु : शिशु को मान-अपमान की परवाह नहीं रहती, **यह चिंताओं से मुक्त, अपने ही आनंद में निमग्न रहता है और स्वयं ही एकाकी खेलता रहता है ।** संत को यही व्यवहार अपनाना चाहिए ।

कुंवारी लड़की : एकांत में धान कूटती हुई एक कुंवारी लड़की ने महसूस किया कि उसके द्वारा ही चूड़ियां आपस में टकराकर आवाज़ कर रही हैं और उसके क्रियाकलाप की बाहर बैठे अतिथियों को प्रकट करा रही हैं । जब उसने एकको छोड़कर सारी चूड़ियां उतार दीं तो फिर किसी तरह की ध्वनि नहीं हुई । जब बहुत से लोग एक जगह रहते है तो इसकी परिणति झगड़ा या गपशप में होती है । इसलिए संत को लड़की की कलाई पर स्थित एकमात्र चूड़ी की तरह **बिना किसी से बात किए अकेले जाते रहना चाहिए ।**

बाण बनाने वाला : बाण की नोंक बनाने वाला एक व्यक्ति बाण की नोंक को भट्टी में तापने के काम में इतना तल्लीन था कि अपने पार्श्व से दल-बल के साथ गुजरने वाले राजा को देख नहीं पाया । इसी प्रकार **साधक को बाहरी या भीतरी किसी प्रकार के पदार्थ की हलचल की परवाह किए बिना अपने मन को पूर्ण रूप से अपनी आत्मा में लगाए रखना चाहिए ।**

सांप : सांप का कोई अपना घर नहीं होता । लेकिन वह दीमक, चूहे जैसे दूसरे प्राणियों द्वारा बनाए गए बिलों में रहकर ही प्रसन्न रहता है । **संन्यासी को भी बिना किसी घर या आश्रम बनाये घूमते-फिरते रहना चाहिए ।** अपना घर बनाना उसके लिए दु:खों व कष्टों का कारण बनता है ।

मकड़ी : जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से ही अपना जाल बुन लेती है, कुछ समय तक उसमें विचरती है और पुनः उस जाल को अपने आप में समेट लेती है, उसी प्रकार **परम सत्ता इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करती है,** उसका विस्तार करती है और पुनः उसे अपने में समेट लेती है ।

भृंगी : यह एक कीट को लाकर अपनी सुराख में बंद कर देता है । अपनी सुराख की दीवारों के पास स्थायी गुंजन सुनते-सुनते मृत्यु के भय में रहने वाला कीड़ा, लगातार भृंगी के बारे में सोचता रहता है और अंततः वह कीड़ा स्वयं भृंगी का रूप ग्रहण कर लेता है । इसी प्रकार साधक को **भगवान में ध्यान लगाकर उनका ही रूप प्राप्त कर लेना चाहिए ।**

इन गुरुओं को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

सकारात्मक शिक्षा प्रदान करने वाले १४ गुरु हैं : पृथ्वी, वायु, आकाश, जलं, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, अजगर, समुद्र, शिशु, बाण बनाने वाला, मकड़ी, साँप और भृंगी ।

नकारात्मक शिक्षा, जिसमें बचकर रहने का विधान हुआ है, प्रदान करने वाले ७ गुरु हैं : कबूतर, पतंग, हाथी, हिरण, मछली, कुरर, कुमारी लड़की ।

सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही प्रकार की शिक्षा प्रदान करनेवाले ३ गुरु हैं : मधुमक्खी, मधु संग्रह करने वाला और पिंगला वेश्या ।

हम प्रकृति के इन २४ गुरुओं से कैसे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, इस तथ्य को प्रतिपादन करते हुए अंततः दत्तात्रेय अवधूत यह कहकर उपसंहार करते हैं कि **स्वयं अपना शरीर ही सर्वोत्तम गुरु है ।**

मनुष्य स्वयं अपने शरीर से अमूल्य शिक्षा ग्रहण कर सकता है । बार-बार जन्म ग्रहण कर और उसके फलस्वरूप अनवरत दुख उठाकर वैराग्य (विरक्ति) की शिक्षा ग्रहण की जा सकती है । **शरीर की सहायता से ही मनुष्य विवेक का अभ्यास कर सकता है और सत्य का साक्षात्कार पा सकता है ।** लेकिन इस बात का स्मरण रखते हुए मनुष्य को अनासक्त रहना चाहिए कि मृत्यु के बाद इस शरीर को कुत्तों और सियारों का आहार बनना है । अनगिनत जन्मों के बाद प्राप्त होने वाला शरीर एक दुर्लभ और अमूल्य वरदान है । अतः **बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि इस शरीर का उपयोग मोक्ष प्राप्ति के लिए** करे क्योंकि वही हमारा अंतिम लक्ष्य है । अन्यथा करना तथा **इंद्रिय-सुखों के लिए इसका दुरुपयोग करना आत्महत्या सदृश है ।**

इस प्रकार दत्तात्रेय अवधूत अत्यंत स्पष्टता से यह प्रतिपादित करते हैं कि हम यदि सिर्फ **सजग दर्शक (द्रष्टा) बने रहें तब भी स्वयं प्रकृति माँ से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं ।**

१०१. इसके बाद **हंसावतार (भगवान का हंस के रूप में प्रकट होना)** का प्रसंग आता है । परम ऋषि और ब्रह्मा के चार मानस पुत्रों - सनक, सनंदन, सनातन और सनतकुमार - ने एक बार विधाता (ब्रह्मा) से अपनी कुछ शंकाओं के निवारण की प्रार्थना की । जगत् की समस्त वस्तुएं हमारे मन में प्रवेश कर जाती हैं और चेतन या अचेतन मन में गहराई से बैठ जाती हैं । यथासमय मन जगत् की वस्तुओं में हमारी पसंद और नापसंद के रूप में प्रवेश कर जाता है । जब हम ध्यान के लिए बैठते हैं, सारी जगत् हमारे समक्ष आने लगती है क्योंकि हम पूरी तरह इसी से ओत-प्रोत होते हैं । इस प्रकार हमारा मन और जगत् की वस्तुएं हलवे

की तरह अविभाज्य रूप से एक-दूसरे से अनुस्यूत (जटिल रूप से मिले) होते हैं; हम अपने मन को जगत की वस्तुओं से कैसे पृथक करें और कैसे इसे भगवान में लगाएं ?

१०२. ब्रह्माजी इस प्रश्न का उत्तर दे पाने की स्थिति में नहीं थे इसलिए उसके स्मरण के फलस्वरूप स्वयं भगवान हंसके रूप में उनके समक्ष आए और बोले - **एक को दूसरे से अलग करने का प्रयास मत करो ।**

मद्रूपं उभयं त्यजेत् ॥ (XI-13-26)

सारी जगत तुम्हारे मन से ही उत्पन्न है । जगत के पदार्थ सिर्फ मन की वृत्ति है (अर्थात् मन के विकार हैं) । जगत तुम्हारे मन में गहरे बैठी है और तुम सदा-सर्वदा संसारी वस्तुओं के विषय में ही सोचते हो । **मन एवं जगत दोनों को एक ही साथ बाहर फेंक दो और परम सत्ता के रूप में स्थित हो जाओ । साधना की यही चरम शिक्षा है ।**

१०३. मनुष्य की त्रासदी यह है कि मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति को समझना नहीं चाहता और उस यथार्थ स्थिति में स्थित रहने के बजाय वह कृत्रिम अवस्था में बने रहना चाहता है । पूर्ववर्ती अनुच्छेदों (पैराग्राफों) में वर्णित निर्विचारता का अभ्यास, जिसका विधान योग वासिष्ठ में एवं आधुनिक युग में रमण महर्षि द्वारा किया गया है, ही ईश्वर अनुभूति का प्रत्यक्ष मार्ग है । बिना हतोत्साह हुए, यदि हम प्रत्येक दिन कुछ समय के लिए यह अभ्यास करें कि ज्योंही हमारे मन में कोई विचार आए, उसे हटा दें तो शीघ्र ही हम अपने मन को निर्विचार करने में और इसे सभी विचारों से मुक्त रखने में सफल हो सकते हैं । **'मैं' और 'जगत्' की भावना केवल विचारमात्र है** (अर्थात् इसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है) । **सुप्तावस्था में यह विचारमुक्त रहते हैं । निर्विचार की अवस्था में जो शेष रहता है वह यथार्थ आत्म रूप है;** और **जो भगवान का ही रूप है । ब्रह्म** (शास्त्रों में ब्रह्म को अनासक्त, निर्लिप्त, निष्काम, दुख-सुख, निंदा-स्तुति आदि से अप्रभावित बताया गया है) **की भांति रहें और मन को निर्विचार रखें ।** हमारी भूल यह है कि इस संदर्भ में हम हमेशा इस **पूर्वग्रह से ग्रस्त रहते हैं कि निर्विचार रह पाना संभव नहीं है और यही दृष्टिकोण हमारी मुख्य बाधा है ।** यदि दृढ़तापूर्वक यह अभ्यास किया जाए तो यह प्रतीत होगा कि यह सर्वाधिक सुगम मार्ग है । **हमारा वास्तविक स्वरूप वह है जिसमें किसी विचार या मनोवृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है** - ओर जो हमारा यथार्थ रूप है उसमें स्थित रहने में क्या अड़चन है ?

१०४. इसके बाद उद्धव भगवान कृष्ण से एक उत्तम प्रश्न करते हैं : "भिन्न-भिन्न महात्माओं ने ख्याति, सत्कर्म, सत्य, इंद्रिय-निग्रह, समृद्धि आदि भिन्न-भिन्न लक्ष्यों का प्रतिपादन किया है और कहा है कि यही एकमात्र लक्ष्य है जिसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए । क्या ये सभी विकल्प समान महत्व के हैं या इनमें से कोई किसी अन्य से अधिक महत्वपूर्ण है ?

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमयाः दिशः ॥ (XI-14-13)

इसके उत्तर में कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि **आत्म-अनुभूति या ईश्वरानुभूति ही मनुष्य का एकमात्र परम लक्ष्य है ।** जो इससे अन्यथा कहते हैं या जो साधन को ही साध्य समझ लेते हैं वे सभी माया के प्रभाव से दिग्भ्रांत लोग हैं ।

१०५. साधना के प्रारंभिक चरणों में, साधक को कुछ खास परिवेश साधना के अनुकूल लगता है और कुछ परिवेश प्रतिकूल ।

जब मनुष्य का मन एक बार एक विशेष भावभूमि में पहुंच जाता है, जब उसे समत्वबुद्धि सध जाती है जब वह अपनी सारी सम्पत्ति एवं समृद्धि का त्याग कर देता है और जो वह आत्मस्वरूप (या भगवान) में ही प्रसन्न रहता है, तब **उसके लिए सभी परिवेश आनंदमय और सभी परिस्थितियां अनुकूल हो जाती हैं ।**

१०६. जब कोई मनुष्य **भगवान के चिंतन में उनके नाम-संकीर्तन में और उनकी महिमा के श्रवण में अपने आप को (अपनी सुध-बुध) बिसार देता है तब उसका मन पावन बन जाता है और वह परम गूढ़ सत्य अर्थात् भगवान को प्रत्यक्ष देखने लगता है ।** जब तक मनुष्य सांसारिक वस्तुओं के विषय में सोचता रहता है तब तक वह संसार-सागर में ही डूबता-उतरता रहता है । त्योंही वह अपने चिंतन को भगवान की ओर उन्मुख करता है वह भगवान, जो परम यथार्थ हैं, के साथ तल्लीन होने लगता है । भगवान के ध्यान को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि स्त्रियों के और स्त्रियों में आसक्त पुरुषों का संग पूर्णतः तज दिया जाए । एकांत में ध्यान किया जाना चाहिए । किसी अन्य वस्तु के प्रति आसक्ति उतना हानिकर नहीं है, जितना स्त्रियों के प्रति आसक्ति । यह आसक्ति तो हमें पराबद्ध करती (पशु बनाती) है और दुःखों को आमंत्रित करती है । (XI-14-26, 27, 29, 30)

१०७. नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।। (XI-20-17)

"कोई भी साधना तभी संभव है जब हमारे पास मानव देह हो । **हमारी यह देह ही सर्वाधिक समर्थ नौका है ।** अपने **गुरु** को नौका चलाने वाला और सागर पार कराने वाला **नाविक** बना, **भगवान की कृपा वह अनुकूल पवन है** जो नौका की गति को तीव्र कर सकती है और आपको संसार-सागर (प्रपंचात्मक जगत्) से सुगमता से पार करा सकती है । शरीर के इस रूप का उपयोग न करना आत्महत्या का सदृश है ।

१०८. कृष्ण से सांख्य, ज्ञान, भक्ति आदि विभिन्न प्रकार के योगों का उपदेश सुनकर उद्धव की बुद्धि चकराने लगी । वे हताश होकर अंततः भगवान से पूछते हैं : "ऐसा प्रतीत होता है कि आपद्वारा निरूपित यौगिक पद्धतियों को तब तक साध पाना कठिन है जब तक मनुष्य आत्म-नियंत्रण न करे । भगवान को प्राप्तकरने की कुछ और सुगम युक्तियां बताने की कृपा करें ।"

कृष्ण कहते हैं -

१. आप चाहे **जिस कार्यकलाप में लगे हों, भगवान का स्मरण रखते हुए उसे उन्हीं को समर्पित कर** दें । अपने कर्म के **फल की प्रत्याशा न करें,** बल्कि अपने **कर्म को पूर्णतया भगवान को समर्पित कर दें ।** जगत् में किसी भी बाह्य स्रोत से किसी आनंद की आशा न करें, **आनंद को स्वयं में ही ढूंढ़े ।**

२. **तीर्थों** (पवित्र स्थलों) एवं **आश्रमों** में जाते रहें क्योंकि वहां **भक्तों एवं पुण्यात्माओं का अपेक्षाकृत अधिक संग** प्राप्त होता है ।

३. **दीपावली** आदि सभी त्यौहारों का वाद्य यंत्री के साथ भजन गाकर भगवान के **स्तवन** से एवं उनके **संकीर्तन द्वारा धूम-धाम से मनाएं ।**

४. भगवान को सभी **प्राणियों के अभ्यंतर और बाह्य शरीर में भी व्याप्त देखें ।** जब हम किसी प्राणी को देखें तो उसे भगवान ही समझे; उसके अभ्यंतर अर्थात् उसकी आत्मा को भी भगवान समझे और उसके शरीर को भी भगवान का ही रूप समझें ।

प्रारंभ में यह स्थिति कल्पना द्वारा ही संभव लगेगी, किन्तु एक दिन ऐसा आएगा जब यह यथार्थ बन जाएगा और सभी चर-अचर में हम भगवान की स्पष्ट अभिव्यक्ति देख सकेंगे । चाहे उच्च कुलोत्पन्न ब्राह्मण हो या कोई दबा-कुचला-उपेक्षित मनुष्य हो, चाहे चोर हो या संत हो, याहे कोई क्रूर हो या दयालु हो, **बिना किसी भेद-भाव या किसी ग्रंथि या किसी अहंकार के सबको समदृष्टि से देखते हुए एक ही परमात्मा का रूप समझें ।** यह दृष्टि हमें ईर्ष्या, प्रतिद्वंद्विता, शत्रुता, श्रेष्ठता या हीनता की ग्रंथियों, अहंकार आदि वृत्तियों से मुक्त कर देगी । इस प्रकार की **समत्व दृष्टि और सभी प्राणियों में परमात्मा के दर्शन की वृत्ति का विकास ईश्वर-अनुभूति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है ।**

५. जो व्यक्ति सभी कार्यकलापों का परित्याग कर स्वयं को पूर्णतः भगवान की इच्छाओं एवं उनकी **कृपा के प्रति समर्पित कर देता है वह अमरता प्राप्त कर लेता है और स्वयं भगवान का ही स्वरूप बन जाता है ।**
(XI-29-9 से 12, 14, 15, 34)

आश्रय स्कंध

१०९. बारहवें स्कंध का आरम्भ होता है कलियुग के चतुर्दिक पतन के वर्णन से जहां सत्य, दया, तितिक्षा आदि सारे सद्गुण तिरोहित हो जाएंगे ।

इस युग (कलियुग) में धन ही कुलीनता का निर्धारण करेगा । जिसके पास शक्ति (ताकत) रहेगी उसी का वर्चस्व रहेगा और न्याय प्रदान करने में भी शक्ति की ही निर्धारक भूमिका रहेगी । व्यापार छल-कपट का पर्याय होगा । यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण के अलावा ब्राह्मणों में और कोई विशिष्टता न होगी । अपशब्दों का धनी व्यक्ति ही विद्वान समझा जाएगा । मनुष्य खाने के लिए जिएंगे । धर्म और पुण्य सिर्फ ख्याति और यश की प्राप्ति के लिए किए जाएंगे । शासक लोभी और क्रूर होंगे और वे सिर्फ डाकू की भूमिका निभाएंगे । सन्यासियों के आश्रम घरों की तरह सुखोपभोग के केन्द्र बन जाएंगे तथा घर और आश्रम में कोई अंतर नहीं रह जाएगा । इस प्रकार जब कलियुग की पराकाष्ठा हो जाएगी और **मनुष्य पशुवत् बन जाएंगे तो भगवान कल्किरूप में अवतार लेंगे और पापियों का संहार करेंगे । फिर उस समय से कृतयुग का आरम्भ होगा ।**

सातवें दिन शुकदेव परीक्षित को यह निर्देश देते हुए भागवत का समाहार करते हैं कि वे इस विचार का परित्याग कर दें कि वे मरने वाले हैं - ऐसे विचार पशुओं के लिए ही उपयुक्त हैं । **यथार्थ 'मैं' (आत्मा) तो अजन्मा है** और जागृत अवस्था वाले मनुष्य के लिए देह की मृत्यु वैसी ही है जैसी स्वप्न में मस्तक काटे जाने का अनुभव । आत्मा शरीर नहीं है वह तो द्रष्टा है - और वह (आत्मा) मृत्यु से प्रभावित नहीं होता अर्थात् वह मृत्यु की पहुंच से परे है । वह विद्युत की तरह बल्ब से भिन्न है और जब बल्ब टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है तब भी विद्युत अक्षत और अप्रभावित रहता है । भगवान की **माया नामक शक्ति द्वारा रचित मन के कारण ऐसा होता है कि व्यक्ति अपने (अपनी आत्मा) को तन और मन का समुच्चय समझता है** और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र में फंस जाता है । राजा परीक्षित शुकदेव के समक्ष अपना सिर झुकाते हैं और स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि उनके आशीर्वाद एवं उनके श्रीमुख से सात दिनों तक भगवान की विलक्षण महिमा सुनकर, **उन्होंने (परीक्षित ने) ब्रह्मानंद रूपी परमानंद प्राप्त कर लिया है और हर प्रकार के भय से**

मुक्त हो गया है । शुकदेव के प्रस्थान के उपरान्त देह-चेतना से मुक्त होकर राजा परीक्षित **आत्मा के साथ ब्रह्म के तादात्म्य की आनंदानुभूति में निमग्न हो** गए । राजा परीक्षित को प्राप्त शाप को सत्य करने के लिए इसी समय सर्पराज तक्षक वहां आया और मारक **(संघातिक)** दंश से परीक्षित को डस गया । यह एक अनूठा उदाहरण था जिसमें मात्र सात दिनों तक भगवान की महिमा एवं लीला के श्रवण द्वारा राजा ने ऐसी पात्रता विकसित कर ली और वे **शाश्वत आनंद की परम अवस्था को प्राप्त हुए ।**

१११. कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद् हरिकीर्तनात् ॥

प्रत्येक युग के धर्म का युगानुरूप अपना स्तर है - उच्च या निम्न और उस युग के मनुष्यों की नैतिक प्रकृति (संरचना) के अनुरूप भगवत्-प्राप्ति के अपने-अपने विधान है । लोगों का सत्पथ से च्युत करने वाले कलियुग के अनेक दोषों की चर्चा और गणना करने के बाद व्यासजी कलियुग की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि कलियुग इस अर्थ में विशेष सौभाग्यशाली है कि **इस युग में भगवत्-प्राप्ति के लिए सर्वाधिक सुगम मार्ग का विधान किया गया है ।** यद्यपि यह सर्वस्वीकृत है कि कलि सभी दोषों का खान है और आज हममें से अधिकांश उस नैतिक दलदल के साक्षी हैं जिसमें वर्तमान मानव जाति ने अपने आपको धंसा लिया है इसके बावजूद इस युग का एक परम गुण है कि **इसमें मात्र भगवान के महिमा-गान और उनके नाम-संकीर्तन और उसके श्रवण से मनुष्य सभी आसक्तियों और बन्धनों से मुक्त हो कर ईश्वर-अनुभूति प्राप्त कर सकता है ।** अर्थात् जो उपलब्धि **कृतयुग में विष्णु के ध्यान** से, **त्रेता में यज्ञों** के विधान से, **द्वापर युग में समर्पित सेवा और पूजा** से प्राप्त होती है वही उपलब्धि **कलियुग में सिर्फ भगवान के गुणानुवाद द्वारा मिल जाती** है । यह पथ कितना सरल है और इस कलियुग में अपने चतुर्दिक व्याप्त दोषों के बावजूद हम कितने भाग्यवान हैं ।

११२. भागवत का आरंभ व्यास ने **अनाम-अरूप परम सत्यको संबोधित** एक प्रार्थनापरक स्तोत से किया है और ब्रह्म-सूत्र तथा उपनिषद् में वर्णित सम्पूर्ण वेदांत दर्शन का सार-सर्वस्व उस स्तोत में निहित है । भागवत के अंतिम श्लोक में व्यास घोषणा करते हैं कि परम सत्ता का **नाम-संकीर्तन ही ईश्वर-अनुभूति में बाधक सभी पापों के नाश में समर्थ है ।** आजकल जब लोग संसार को भी कसकर पकड़े रहना चाहते हैं और शारीरिक-मानसिक रूप से बिना कोई झंझट उठाए ईश्वर-अनुभूति और मुक्ति भी चाहते हैं; सबसे सुगम पथ है

भगवान के नाम का संकीर्तन (उच्चारण) करना । भोजन करते, टहलते, यात्रा करते या रसोई घर में खाना बनाते आदि; अर्थात् किसी भी कार्य में कहीं भी संलग्न रहते हुए भगवान का नाम लिया जा सकता है । **संस्कृत वर्णमाला का हर अक्षर ब्रह्माण्ड की शक्ति का एक अंश है,** जिसके रूप में भगवान ने अपने को जगत में अभिव्यक्त किया हैं । प्रथम अक्षर **'अ' में अमृत वर्षिणी शक्ति निहित है** और दीर्घकाल तक इसका उच्चारण करने से दीर्घ जीवन प्राप्त किया जा सकता है इसी प्रकार **'ई'** वर्ण ईशानी है जो **दूसरों को नियंत्रित करने की शक्ति** प्रदान करती है और माया बीज होने के कारण **इसमें माया-निवारण की भी शक्ति हैं । भगवान के नाम विभिन्न ध्वनि-शक्तियों के समुच्चय हैं जिनकी तरंगें हमारे तन-मन में और हमारे परिवेश में फैलकर उन्हें पावन बना देती हैं** और अंततः हमें समाधि की परम-चैतन्य अवस्था में अधिष्ठित करती हैं जिसकी परिणति **ईश्वर-अनुभूति** के रूप में होती है ।

११३. जो साधक आध्यात्मिक अनुशासन से सामान्यतः संबद्ध कष्टसाध्य, समयसाध्य विधि-विधानों की परिकल्पना से कतराते थे, उन्हें पूर्ववर्ती अनुच्छेद के संदेश से अपार प्रसन्नता होनी चाहिए जिसमें साधना के अब तक के सरलतम नुस्खे वह गागज़ जिसपर रोगी के लिए औषध और उसकी सेवन विधि लिखी रहती है । का विधान हुआ हैं । मन ही मन भगवान का नाम लेते रहने के लिए किसी व्यक्ति को व्यस्तता भरे अपने कार्यकलापों में से अलग से कोई समय नहीं निकालना पड़ता । एक सुझाव - जब भी संभावना हो भगवान का नाम, कुछ ही मिनटों के लिए सही, **जोर-जोर से लें ताकि उन वर्णों की ध्वनियां आपके मन और शरीर में अच्छी तरह प्रतिध्वनित हो** और वे ध्वनियाँ आपमें एक नये उत्साह का संचार करें । कुछ समय में आप पाएंगे कि आपको इसका व्यसन हो गया और धीरे-धीरे आपके मन का तनाव और हताशा और तन की **पीडा दूर होने लगी** और मन में **एक वर्णनातीत शांति व्याप्त होने लगी** और **आपके जीवन में एक युगांतकारी परिवर्तन घटित** होने लगा । बाद में जब आप हमेशा ऐसा महसूस करने लगें तो आप नाम-जप (संकीर्तन) की अवधि को बढ़ा सकते हैं । आप जिस नाम का उच्चारण करते हैं **उसकी महत्ता या प्रतीकात्मकता को समझने का प्रयास करें; धार्मिक प्रवचनों में भाग लें; पुण्यात्माओं या संतों के सान्निध्य में रहें;** या मात्र बैठकर **भगवान की महिमा का ध्यान करें ।** विविध स्कंधों में विविध प्रकार की साधनाओं और अनुशासनों का विधान हुआ हैं । यदि आप उनमें से एक भी नहीं अपना सकते तो कम-से-कम आप **'कलियुग नुस्खे' का पालन करें** जो २१ **वीं शती के लिए एक 'तत्क्षण नुस्खा' भी है ।** इसका अनुभव करें और आनंद सागर में गोते लगाएं । **भगवान की कृपा प्रतीक्षा कर रही है कि आप उसका द्वार खोलें ।**

११४. अब जब हम अपनी आध्यात्मिक यात्रा पूरी कर चुके हैं, एक बार फिर से पीछे देखें और स्कंध ९ से १२ तक वर्णित साधना के अनिवार्य पक्षों का सार ग्रहण करें ।

१. **सच्चा भक्त प्रतिशोध नहीं लेता,** भले ही दूसरे खुल्लम-खुल्लम उसकी बरबादी पर तुले हों । भक्त भले ही इस संबंध में **भगवान से प्रार्थना न करें तब भी भगवान स्वयं ही ऐसे भक्त की रक्षा करते हैं** क्योंकि उसके मन में किसी आक्रामक के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव, विद्वेष या ईर्ष्या नहीं होती ।

२. साधकको संसारी व्यक्तियों के संग से सदा बचना चाहिए और **संसारी वस्तुओं में अपनी इंद्रियों को नहीं लगाना चाहिए ।** उसे या तो निरे एकांत में रहकर निरंतर भगवान का स्मरण करते रहना चाहिए और यदि यह असंभव हो **पुण्यात्माओं अर्थात् संतों के सान्निध्य में रहना चाहिए ।**

३. **दैहिक इच्छाएँ** अग्नि की तरह हैं और उनके तोष या पोषण का प्रयास **अग्नि में घी डालने जैसा है ।** किसी स्त्री के संग अकेले कभी नहीं करना चाहिए भले ही वह स्त्री मां, बहन या बेटी ही क्यों न हो क्योंकि प्रबल इंद्रियाँ अच्छे-भले लोगों को भी सत्पथ से विचलित कर सकती हैं ।

४. राजा रंतिदेव ने एक सम्राट का विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत किया जो मनुष्य जाति के हित में अपने प्राण सहित अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर हैं । यहां तक कि जब वह मरणासन्न थे, उनकी मात्र यही अभिलाषा थी कि **दूसरों के दुख-दर्दों का वे वरण कर लें और दूसरे सुखी हो जाएं ।**

५. भले ही कोई भगवान कृष्ण की कथा को पुरा-कथा (पुराण कथा) मान ले, तब भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि **यह उस भगवान की कथा है** जिन्होंने मनुष्य रूप में अवतार लिया था । श्रवण मात्र से ऐसे साधक जिसमें अपनी वासनाओं के त्याग की पात्रता है आसानी से एकाग्रता प्राप्त कर लेते हैं, जो उन्हें समाधि की परम चैतन्य अवस्था में अधिष्ठित कर देती है ।

६. प्रारब्ध कर्म के अनुरूप जब शरीर और इंद्रियाँ विविध कार्यकलापों में संलग्न रहती हैं, आध्यात्मिक रूप से **जागृत आत्मा विशुद्ध साक्षी-चेतना बनकर देखती रहती है और उसमें किसी प्रकार के अहंकार का अस्तित्व नहीं रहता जो अपने में कर्त्तापन का भाव रखे।**

७. साधक को यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि वह अपने प्रयत्नों से ईश्वर-अनुभूति प्राप्त कर सकता है - **भगवत् कृपा के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता** और साधक को इसके लिए **अनवरत प्रार्थना करते रहना चाहिए ।**

८. भगवान की **चौर्य-लीला के श्रवण मात्र से मन बिलकुल एकाग्र हो जाता है** और इससे मोक्ष (स्तेय योग) प्राप्त होता है ।

९. भगवान की कृपा के लिए अनवरत प्रार्थना; प्रारब्ध के कारण प्राप्त **दु:ख-सुख का शांतिपूर्वक भोग; मन, वाणी और कर्म से भगवान की अर्चना-आराधना;** इनके द्वारा एक ही में तीन साधनाएं हो जाती हैं जिसका उल्लेख ब्रह्मा ने भगवान की प्रार्थना में गाए गए एक श्लोक में किया है ।

१०. सर्वोत्तम भक्ति वह है जहां भक्त **अपने प्रियतम (भगवान) की प्रसन्नता और कल्याण में आनंदोत्सव मनाता है** और उनके दुख में वह पूर्णतः दुखी होता हैं । गोपिकाएं इसकी सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं ।

११. ऐसा विश्वास है कि सम्पूर्ण 'रास-क्रीड़ा' प्रसंग का पाठ या श्रवण करने से **हृदय संबंधी सम्पूर्ण रोगों का, विशेषकर काम वासनाओं और इच्छाओं का निवारण हो जाता है** और संसारी व्यक्ति भी भगवान की ओर आकृष्ट होता है ।

१२. जीवात्मा यदि एक बार भगवान की महिमा का श्रवण करने आ जाए, तो इसमें **परमात्मा से ऐक्य की लालसा जागृत होने लगती** है । यदि एक जन्म में संभव नहीं तो जन्मांतरों में तब तक यह लालसा बनी रहती है, जब तक लक्ष्य-प्राप्ति न हो जाए । भगवान को भेजे गए रुक्मिणी के संदेश एवं इन दोनों के विवाह के प्रसंग में इस तथ्य का निरूपण हुआ है ।

१३. मनुष्य को **निरंतर और अटल भाव से भगवान का चिंतन करना चाहिए ।** यह आवश्यक नहीं कि यह चिंतन **प्रेम और समर्पण** से युक्त ही हो । यहां तक कि भगवान के प्रति तीव्र घृणा एवं शत्रुता के भी सतत अभ्यास से मुक्ति मिल सकती है । **किसी भी भाव से मन को भगवान में लगा रखना चाहिए ।**

१४. अपने भक्त से विशुद्ध प्रेम के अतिरिक्त भगवान कुछ नहीं चाहते । **सच्चे प्रेम और भक्ति से अर्पित कोई पत्र, पुष्प, फल या किंचित् जल ही भगवान को प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त है ।**

१५. राजा निमि की शंकाओं का निवारण करते हुए नौ योगेश्वर कुछ ऐसे अनुशासनों का उल्लेख करते है जिससे भगवान की अनुभूति होती है ।

(क) अपने **शरीर के साथ तादात्म्य** का भाव रखना ही वस्तुतः (जो सही नहीं है), **भय और दु:ख का हेतु हैं ।** अखिल ब्रह्माण्ड के आत्मा **भगवान की वंदना** के द्वारा हम इन भीतियों एवं संकटों से अपने को मुक्त कर सकते हैं ।

(ख) अपने मन, वचन, कर्म, इंद्रियों आदि के द्वारा संपादित सारे कार्य-कलापों से अपने लिए किसी प्रकार के **फल की प्रत्याशा रखे बिना उन्हें भगवान को समर्पित कर देना चाहिए । भगवान को अर्पित ऐसे कार्य हमें बांधते नहीं हैं ।**

(ग) **चंचल मन को नियंत्रित किया जाना चाहिए** और उसे सभी विचारों से मुक्त किया जाना चाहिए ।

(घ) **मनुष्य को सभी आसक्तियों से बचना चाहिए,** भगवान की महिमा का श्रवण करना चाहिए और बिना किसी लज्जा के उनके नाम का बराबर संकीर्तन करना चाहिए ।

(ङ) **निरहंकारता के विकास के लिए** मनुष्य को नदियों, समुद्रों और सभी प्राणियों को परम सत्ता का रूप मानकर, उनका वन्दन करना चाहिए ।

(च) **भगवान के निरंतर चिंतन से भक्ति, वैराग्य (अनासक्ति) और भगवान के अंतरंग ज्ञान** की प्राप्ति होती है और इससे अंततः मोक्ष प्राप्त होता है ।

(छ) भक्तों में सर्वोत्तम वे हैं

- जो सभी **प्राणियों को आत्मवत् समझकर और भगवान** - (जो सभी प्राणियों के आत्मतत्व हैं) - **का रूप समझकर** उनके प्रति **प्रेम और श्रद्धा** का भाव रखते है ।
- जिनके मन में **इच्छाओं का बीज कभी अंकुरित नहीं होता** और जो पूर्ण रूप से **भगवान की शरण** में हैं ।
- जिनका मन **एक पल के लिए भी भगवान के स्मरण से विमुख नहीं होता** और जो तीनों लोकों के वैभव और समृद्धि से भी ललचाता नहीं ।

(ज) **सत्संग से** सभी सांसारिक वस्तुओं से मन को **अनासक्त करने से,** सभी प्राणियों के प्रति करुणा और मैत्री भाव के विकाससे, भगवान की **महिमा के श्रवण, कीर्तन और ध्यान के द्वारा स्वच्छता, तितिक्षा, विनम्रता, मौन, ऋजुता** (स्पष्टता), **धर्मशास्त्रों का अध्ययन, ब्रह्मचर्य, अहिंसा और समत्व दृष्टि से तथा अपना सबकुछ, यहां तक कि पत्नी और बच्चे भी, भगवानके श्री चरणों में अर्पित कर देने से** मायाका अतिक्रमण किया जा सकता है अर्थात् माया के प्रभाव से मुक्त हुआ जा सकता है ।

१६. प्रकृति माता ने हमें अनेक गुरु दिये है, जिनमें से प्रत्येक से हम या तो **सकारात्मक शिक्षा ग्रहण कर सकते** हैं जो हमें अपने आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर कर सकती है या ऐसी बात सीख सकते हैं जिससे बचा जाना चाहिए । दत्तात्रेय अवधूत ने २४ गुरुओं का उल्लेख किया है जिनमें से प्रत्येक से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की, उदाहरणार्थ पृथ्वी से तितिक्षा आदि । इनमें से चौदह गुरु अर्थात् पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, अजगर, सागर, शिशु, वाण बनाने वाला, मकड़ी, सांप और भृंगी हमें सकारात्मक शिक्षा देते हैं ।

सात गुरु ऐसे हैं जिनसे हम ऐसी बात सीखते हैं जिनसे बचा जाना चाहिए । इसे हम **नकारात्मक (निषेधात्मक) शिक्षा** कहते हैं । ये सात गुरु हैं - कबूतर, पतंग (शलभ), हाथी, हिरण, मछली, कुरर पक्षी ओर कन्या ।

शेष तीन गुरु अर्थात् मधुमक्खी, मधु संग्रह करने वाला और पिंगला दोनों ही प्रकार की अर्थात् **सकारात्मक और निषेधात्मक शिक्षा** देते हैं ।

दत्तात्रेय अवधूत आगे कहते है कि स्वयं **अपना शरीर भी बहुत उत्तम गुरु है ।** यह हमें **विरक्ति और विवेक के अभ्यास की आवश्यकता और अनासक्ति की शिक्षा देता है** क्योंकि **शरीर नाशवान है;** और अंततः **ऐन्द्रिय सुखोपभोग के त्याग** और **मोक्ष के परम लक्ष्य की प्राप्ति** की आवश्यकता की शिक्षा इससे मिलती है ।

१७. इस प्रश्न से साधक परेशानी में पड़ सकता है कि उन सांसारिक वस्तुओं से मन को कैसे विमुख (विरत) किया जाए जिनसे यह सघन रूप से जुड़ा है और कैसे इसे (मन को) भगवान में लगाया जाए । इनका उत्तर स्वयं भगवान ने ब्रह्मा एवं उनके पुत्रों सनक आदि

संतों को दिया है : **बिना अहंकार के अपने को अनासक्त रखकर और भगवान के या आत्मा** के सभी गुणों का अनुकरण करते हुए परम सत्ता का स्वरूप ग्रहण कर **मन और जगत् को एक साथ छोड़ दें । साधना-जगत् की यह परम शिक्षा है ।**

१८. मनुष्य की यथार्थ अवस्था वह है जब मन में कोई भी विचार शेष नहीं रहता लेकिन हमारी त्रासदी है कि हम न तो इस अवस्था में विश्वास करते है और न ही इस अवस्था में स्थित होना चाहते हैं । यदि हर दिन हम **कुछ देर का अभ्यास करें तो मन की पूर्ण शून्यता और निर्विचारता की अवस्था की प्राप्ति संभव है,** जो ब्रह्म - अनासक्त, निर्लिप्त, सभी कर्म-बंधन से मुक्त, बाह्य प्रभाव से परे - का रूप है ।

१९. भगवान कृष्ण घोषणा करते हैं कि **भगवान** या **आत्मा की अनुभूति** की एकमात्र परम लक्ष्य है और **यह अनुभूति, ख्याति, पुण्य (सत्कर्म) सत्य आदि सबसे विलक्षण है ।**

२०. जब साधक का मन साधना से परिष्कृत हो जाता हैं तब उसका **समत्व बुद्धि** प्राप्त हो जाती है, वह अपने **आत्मस्वरूप में ही प्रसन्न** रहता है, सभी परिवेश और सारी परिस्थितियां **साधना के अनुकूल** बन जाती हैं ओर **आनंद से परिपूर्ण** रहती हैं ।

२१. सिर्फ सांसारिक वस्तुओं के विषय में सोचते रहने से व्यक्ति उसी प्रपंच में उलझता जाता है जब कि परम यथार्थ अर्थात् एकमात्र भगवान के चिंतन से मन पूर्णतया भगवान में तल्लीन होता हैं भगवान के सार्थक चिंतन के निमित्त मनुष्य दूसरे सेक्स (SEX) के या दूसरे **सेक्स (SEX) के संग के अभिलाषी व्यक्तियों के सान्निध्य से बचना चाहिए क्योंकि** संसार के किसी अन्य वस्तु के प्रति आसक्ति उतना हानिकर नहीं है जितना सेक्स के प्रति ।

२२. कई जन्मों के बाद प्राप्त **मानव-देह परम सौभाग्य की वस्तु है जो संसार-सागर के संतरण के लिए उपयुक्त (समर्थ) नौका है । गुरु को इस नाव का नाविक बना लें** और वे इस नौका को दिशा देंगे और इसे **सागर पार करायेंगे । भगवत्-कृपा अनुकूल पवन है** जिसमें नौका तीव्रता से आगे बढ़ सकती है । इस शरीर का और अवसर का **उपर्युक्त प्रकार से उपयोग न कर पाना आत्महत्या** के सदृश है ।

२३. योग के विविध मार्गों के उल्लेख के कारण भ्रांत उद्धव जब भगवान से उनकी प्राप्ति के लिए बिना कठोर योग की कुछ सुगम युक्तियां बताने की प्रार्थना करते हैं तो कृष्ण कहते हैं :

(क) **अपना प्रत्येक कार्य भगवान का निरंतर स्मरण करते हुए और उन्हें विनम्र भेंट के रूप में करें । तीर्थों (पवित्र स्थलों) की यात्रा करें** जहां

बड़ी संख्या में भक्त और संत (पुण्य आत्माएं) मिलते हैं । **दीपावली आदि** सभी त्योहारों को भगवान के गुणानुवादों का गान करते हुए और उनके नामों का जय, संकीर्तन आदि करते हुए **धूमधाम से मनाएं ।**

(ख) जो सभी कार्य-कलापों का त्याग कर देता है और **भगवान की इच्छा एवं उनकी कृपा के भरोसे अपने आप को पूर्णतया समर्पित कर देता है** उसे अमरता प्राप्त हो जाती है और उसे निश्चित ही भगवान की प्राप्ति होती है ।

२४. इस घोर कलियुग में भगवान का गुणानुवाद कर तथा उनका **नाम-संकीर्तन एवं श्रवण कर अनायास ही ईश्वर-अनुभूति प्राप्त की जा सकती है ।** कितना सरल और अमोघ नुस्खा है और हम सभी कितने भाग्यशाली हैं जिसे अपने दैनिक जीवन में बिना कुछ किए उसे प्राप्त करने का ऐसा अनायास मार्ग सुलभ है ।

११५. **निष्कर्ष :** श्रीमद् भागवत मात्र एक ग्रंथ नहीं है । **यह ध्वनि (शब्द ब्रह्म) रूप में स्वयं भगवान का प्राकट्य है ।** भगवान अनंत हैं और उनके शब्दों की अनंत व्याख्याएं हैं - और उनमें से प्रत्येक सही है क्योंकि वे अलग-अलग आध्यात्मिक रुझान किसी ओर प्रवृत्त होने की क्रिया या भाव क्षमता आदि वाले साधकों की दृष्टि से उनमें निहित वासनाओं के अनुरूप हैं । १९५७ में अपने गुरु के निर्देशन में मैंने वसिष्ठ गुहा (उत्तर प्रदेश, हिमालय) में वर्ष में एक बार भागवत सप्ताह आरंभ किया । गुरु की अपार कृपा (करुणा) के कारण इस संदर्भ में नित नूतन आयाम खुलने लगे और वर्ष-प्रतिवर्ष भागवत के अध्ययन और इसकी व्याख्या के क्रम में मेरे मन में नए-नए अर्थ उद्घाटित होने लगे । मेरे अनेक मित्र मुझसे बार-बार आग्रह करते रहे कि भागवत पर अपने विचार मैं लिपिबद्ध करूं । मैंने वैसा करने का प्रयास किया और यह पुस्तक उसी का परिणाम है । यहां कहीं भी मैंने कोई अपनी टिप्पणी नहीं जोड़ी है वे या तो मेरे अल्पशास्त्रज्ञान पर आधारित हैं या साधुओं और भक्तों के सत्संग में उनके श्रीमुख से सुनी हुई बातें हैं ।

श्रीमद् भागवत के अंतिम श्लोक का स्मरण करते हुए हम "उस लोकोत्तर अनुभवातीत भगवान हरि की वंदना करें जिनके नाम के चिंतन से सभी पापों का नाश हो जाता है और जिनकी शरणागति से सभी दु:ख-कष्ट और आपदाएं तिरोहित हो जाती हैं ।"

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दु:खशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥ (XII-13-23)

❖ ❖ ❖ ❖